भावी समाज

सुखवीर आर्य

भगवान अनंत हैं। भगवान के विषय में हमारे शब्द, हमारे भाव ऐसे होने चाहियें मानों भगवान स्वयं बोल रहे हैं। वे सत्य से इतने ओत-प्रोत हों कि उनमें कहीं भी किसी प्रकार के मिश्रण क़ी, सांप्रदायिकता अथवा धार्मिकता की गंध न हो। सब कुछ पूर्ण पक्षपात रहित होना चाहिये। उनकी विशालता, उनका कारुण्य, उनका समत्व भाव हमारे विचारों में आगे-आगे चलना चाहिये। हमारे प्रयास का प्रथम स्वरूप होना चाहिये कि हम उन्हें किसी प्रकार भी सीमित न करें। उनकी वाणी के, वैदिक श्रुतियों के अनुगामी रहें। वे हमारे शब्दों की समर्थक हों।

सुखवीर आर्य
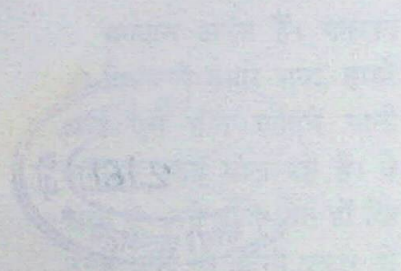
भावी समाज

सुखवीर आर्य

श्रीअरविन्द चेतना धारा
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : २००१

मुद्रक :
ऑल इंडिया प्रेस
पांडिचेरी

मूल्य : ३० रुपये

प्रकाशक :
श्रीअरविंद चेतना धारा
पांडिचेरी

PUBLISHED BY
SRI AUROBINDO CHETANA DHARA, PONDICHERRY

समर्पण

दृष्टि तुम्हारी हम अपनाते शब्द भाव सब तुमसे पाते।
मानवता की भेंट चढ़ाते भीतर बैठे जो तुम गाते।।
जग-जन-मंगल फलता जिसमें सुखी धरा का जीवन-आंगन।
सृष्टि-यज्ञ में सभी समर्पण तन मन आत्मा तप श्रम साधन।।

अनुक्रम

आत्म कथ्य

देख रहा हूँ मनुष्य धर्म को इतना बढ़ा-चढ़ा कर देखने का अभ्यासी हो गया है कि धर्म जिसके लिए है, जिसकी प्राप्ति में एक सहायक सोपान मात्र है, जिसकी चर्चा करता है, जिसकी ओर इंगित करता है – उस परमेश्वर को भूलकर – धर्म को ही सब कुछ मान बैठा है। धर्म को लेकर जीवन का बड़ा भाग व्यतीत करता है। परमेश्वर की प्राप्ति हित साधन जुटाने के लिए, साधनों का अभ्यास करने के लिए उसके पास समय नहीं है। धर्म के नाम पर वह सब कुछ करने को तैयार रहता है। हम कहीं जायें, कहीं देखें, किसी से मिलें, जब हम परिचय पूछते हैं, हर व्यक्ति अपने आपको हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम अथवा जैन, इनमें से कोई एक कह कर अपना परिचय देता है। वह धर्म को समझता नहीं, उसकी तात्विकता को जानता नहीं, उसके मूल का उसने दर्शन नहीं किया। केवल उसके बाह्य रूप को देखा है, उससे ही उसका परिचय है और वह भी उतना मात्र, जितना उसके परिवार ने, चारों ओर निवास करनेवालों ने उसे बताया है। कुछ परम्परागत प्रथाओ को, रीति-रिवाजों को ही वह धर्म समझता है, धर्म नाम से पुकारता है। वास्तव में

पूछने पर हर व्यक्ति अपने शरीर का परिचय देता है, जबकि शास्त्रों के अनुसार तथ्य यह है कि हम शरीर नहीं हैं जीवात्मा हैं। कोई भी यह कहता नजर नहीं आता – "मैं आत्मा हूँ, परमात्मा की संतान हूँ। आत्म-विकास के लिए यहाँ संसार में जन्मा हूँ। मुझे अपनी सत्ता के सत्य को खोजना है, अपने मूल उद्गम को जानना है, परम सत्य के साथ तादात्म्य लाभ करना है। मेरा परिचय इतना मात्र है कि यह शरीर, यह मन, ये इंद्रियाँ मुझे यंत्र रूप में मिली हैं। मेरे अंदर ईश्वर का निवास है। एक विकासोन्मुखी आत्मा जो बार-बार संसार में जन्म ग्रहण करती है, मेरा सच्चा व्यक्तित्व है और जब तक अपने मूल उद्गम के साथ तादात्म्य लाभ नहीं करती, तब तक आवागमन के चक्र से मुक्त नहीं होती।"

आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् मनुष्य को आत्म-दृष्टि प्राप्त होती है। उसके अन्दर सत्य-असत्य का, धर्म-अधर्म का, उचित-अनुचित का विवेक जन्मता है। वह समझ जाता है दूसरों को – जो कि उसके अपने ही भाई हैं, आत्मीय स्वजन हैं – आत्म-साक्षात्कार के पथ पर सहायता प्रदान करना, उन्हें संग लेकर चलना, उनके दुख-सुख में हाथ बंटाना उसका प्रथम कर्तव्य है।

हे प्रभो ! जब तक मैं मनुष्यों की आंतरिक स्थिति के प्रति अवगत नहीं था, मैं सुखी था। भले ही वह सुख का सच्चा स्वरूप नहीं था। अचेतनता थी, अज्ञान-निशा थी। किन्तु अब जब कि मैं उनके अंदर, हृदय की गहराई में एक अमिश्रित सत्य को जानने की, उसके अनुसार जीवन जीने की प्यास देखता हूँ, एक नये प्रकार के जीवन के लिए, उच्च आध्यात्मिक जीवन के लिए उनकी आत्मा को व्याकुल, वेदना से कराहते अनुभव करता हूँ, मुझे बेचैनी घेर लेती है। जानता हूँ रुदन समाधान नहीं। फिर भी कभी-कभी रात्रि की निस्तब्धता में मुझे पकड़ ही लेता है। तब निराशा से भरा हृदय लेकर तेरी शरण ग्रहण करता हूँ। हृदय में डूब जाता हूँ। रुदन प्रार्थना का रूप लेता है। जब मनुष्य जाति का पाप लेने की और अपना जन्म-जन्म का संचित पुण्य देने की बात करता हूँ, तेरी मधुर मुस्कान अपने ऊपर बिखरी पाता हूँ। प्रसन्नता प्रदान करनेवाला पथ सम्मुख खुला देखता हूँ। अमृत-सिंचन करता-सा, मधुमय अंर्तश्रवण मुझे आनंद-विभोर कर देता है। "शीघ्र ही संसार वह दिन देखेगा जब सब सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अभिव्यक्ति का रूप धारण करेगा। दिव्य स्पंदनों से धरा-जीवन स्पंदित होगा। सत्य, प्रेम, भ्रातृत्व की त्रिवेणी पृथ्वी के वातावरण में प्रवाहित होगी। मनुष्य भीतर जागेगा, आत्मा में सचेतन होगा। वह सत्य

का पुजारी होगा। मानवता को प्रभु-मूर्ति के रूप में देखेगा। उसकी सेवा उसका जीवन, जीवन का स्वरूप होगा।'' प्रसाद रूप में एक अथाह शांति का सिंधु जगदीश्वर मेरे सम्मुख उपस्थित करते हैं, जिसका प्रवाह मैं मानवता की ओर खोल देता हूँ। सृष्टि में यही एक वस्तु है, घटना है जो मुझे सर्वाधिक शांति, आनंद तथा आंतरिक संतुष्टि प्रदान करती है। जन्म-जन्म में करती रही, आज भी कर रही है।

सुखवीर आर्य
श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

प्रार्थना

हे जगदीश्वर ! हे करुणानिधान ! आज तूने मुझे वह स्तर दिखाया जो भावी समाज का, आगामी मानव का स्वाभाविक जीवन-स्तर होगा। जहाँ सब चैत्य चेतना से, आत्मा के प्रभाव से प्रेरित था। सर्वत्र आत्मिक भाव की अभिव्यक्ति थी। सब ज्योतिर्मय था, आनंदमय था, सामंजस्यपूर्ण था। कहीं अहंकार की ग्रंथि नहीं थी। कोई दावा नहीं था, श्रेष्ठता जताने का भाव नहीं था। मानव मन उच्च चेतनाओं की ओर उद्घाटित थे। हृदय निर्मल थे। निस्स्वार्थ प्रेम से, दया, मैत्री, सहानुभूति से भरे थे। भावों में विशालता थी। व्यवहार में उदारता, सत्यता, आत्मा की दिव्यता झलकती थी। मानव सत्य के पुजारी थे। आत्म-अनुसंधान के पथ के पथिक थे। आत्मा की परिपूर्णता जीवन में चरितार्थ करने के अभिलाषी थे। धर्म नहीं थे। आडम्बर नहीं था। जीवन मानों यज्ञ रूप था। मानव-चेतना प्रदीप की लौ की भांति ऊर्ध्वमुखी थी। मनुष्य कर्तव्य-परायण थे। सब स्वाभाविक रूप में व्यक्ति-सत्ता से जगत-सत्ता की ओर प्रवाहित था। जिसके पीछे हृदयेश्वर का संकल्प था। वह जीवन आत्म सत्य का, आंतरिक प्रसन्नता का, दिव्य शांति का, सुखद, सुन्दर, शांत स्वरूप था।

क्रांति के चार चरण

विश्व-वृक्ष का मूल एक आनंदमय पुरुष का दिव्य संकल्प है। यहाँ सब उसी की अभिव्यक्ति है। वह पुरुष और उसका संकल्प दो नहीं हैं। सदैव एक और अभिन्न हैं। जो मूल में निहित है वह ऊपर आयेगा ही। विश्व-वृक्ष का मूल दिव्य है। अतः अपने विकास में एक दिन अवश्य दिव्यता प्राप्त करेगा। उसके फल, पुष्प, पत्र सभी दिव्य होंगे। यहाँ सब आत्मा के माधुर्य से भरपूर होगा। रूपक की भाषा में हम इस प्रकार कहेंगे – इस भव-उपवन के माली ने अपने दिव्य चेतना-क्षेत्र में इस अद्‌भुत उपवन की सृष्टि की है। हर क्षण इसका सिंचन चेतन वारि से कर रहा है, जिससे कि एक दिन इसकी शाखाओं पर अमृतमय मीठे फल लगें। सुन्दर सुभग सचेतन पुष्प खिलें। उपवन के वातावरण को अपनी दिव्य सुगंध से भर दें। इसके स्वर्णिम पत्रों की सुखद छाया देवों के आकर्षण का केन्द्र बने। वे पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करें। मनुष्यों के साथ मिल कर वसुन्धरा के वातावरण में दिव्यता प्रवाहित करने के लिए प्रेरित हों, जिससे कि यहाँ सब नन्दन वन के समान शोभायमान हो।

सृष्टि आत्म-विकास का क्षेत्र है। संसार में बार-बार जन्म ग्रहण करने से मानव आत्मा के अनुभवों का भंडार भरता है। जैसे-जैसे वह विकास के सोपानों पर अग्रसर होती है, उसकी दृष्टि में व्यापकता आती है। वह आंतरिक

स्तरों पर सचेतन होती है। अपने अनंत सर्वव्यापक मूल स्वरूप का उसे बोध होता है। सीमित व्यक्ति-चेतना उसे कचोटने लगती है। अहंकार का शासन असह्य हो उठता है। संकीर्णताएँ घुटन उत्पन्न करने लगती हैं। स्वार्थ-भावना में जलन अनुभव करती है। मानव-चेतना का इंद्रियों में रमण उसे पशुता में निवास के समान दुखदायी अनुभव होता है। केवल अपने लिए ही जीना उसे कारावास प्रतीत होता है। वह पर्दे को चीरकर सम्मुख आती है और मानव-जीवन की बागडोर अपने दिव्य करों में थाम लेती है। हमारे विचारों में, भावों में, कर्मों में हस्तक्षेप करना, जीवन को एक नई दिशा में, आध्यात्मिक दिशा में मोड़ प्रदान करना प्रारंभ करती है। जिसके परिणाम स्वरूप हमारी चेतना में परिवर्तन आता है। विचार, भाव उत्थान लाभ करते हैं। हृदय पवित्र, इंद्रियाँ संयमित हो जाती हैं। वासना तथा अहंकार छोड़कर चले जाते हैं। हम पूर्णतः दूसरे, एक भिन्न प्रकार के व्यक्ति हो जाते हैं। स्वभाव बदल जाता है। चेतना परिवर्तित हो जाती है। हम वह नहीं करते जो अब तक करते आ रहे थे। वही नहीं रहते जो अब तक थे। हमारे पग उसी मार्ग पर नहीं बढ़ते जो मार्ग स्वार्थ-भाव के, निम्न-वृत्तियों के कीच से भरे हैं। हम अपने स्वभाव में से शत्रुता त्याग देते हैं, बदले की भावना को धो डालते हैं। ईषा-द्वेष की जड़ें उखाड़ फेंकते हैं। सत्ता का हर भाग परिवर्तन की, उत्थान की, विशालता की, ज्योतिर्मयता की मांग करता है। अंहंकार से, संकीर्णता

से बाहर आना चाहता है। अपने आपको और अपने परिवार को पालकर ही हम संतुष्ट नहीं होते। हमारा व्यक्तित्व अपनी सीमित चेतना का अतिक्रमण करता है और अपने सच्चे स्वरूप में विश्व-चेतना-स्तर पर स्थित होता है। जहाँ वह आत्मा है, जहाँ वह देखता है कि भूतल पर जीवन एक है; चेतना एक है, अस्तित्व एक है। वह आत्म-सत्य के स्तर पर, उसके अनुसार जीना चाहता है, जहाँ यह चेतना स्वाभाविक होती है कि मानव मात्र भाई-भाई है। जहाँ हम सबको अपना सखा देखते, आत्मीय अनुभव करते हैं। उनके कष्टों को बांटते, उन्हें सुखी करने में अपने जीवन को सफल मानते हैं। जिस स्तर पर उठ कर हर मनुष्य क्षुद्र व्यक्तित्व की परिधि से बाहर आता है, भूमा में उठता है। उसकी चेतना मे विशालता आती है। वह दूसरों के लिए जीवन को सच्चा जीवन, दूसरों के सुख में सच्चा सुख अनुभव करता है। और सबको, सम्पूर्ण मानवता को परम पिता की विभिन्न संतानों के रूप में देख कर, विश्व को एक परिवार के रूप में लख कर हर्षित होता है।

किन्तु देखा जाता है, इतिहास साक्षी है कि ऐसा व्यक्ति अथवा ऐसे व्यक्तियों का एक समूह अपने इस उच्च विचार की चरितार्थता में समाज के किसी क्षेत्र से भी सहयोग नहीं पाता। सभी बाधा उपस्थित करते नजर आते हैं। धर्म और जातीयता की संकीर्णता रूपी भीषण जंजीर के भार से दबा समाज उसका विरोध करता है। जिस परम सत्य की

आलोकमयी पताका के साये में वह हर मनुष्य को स्वतंत्र खड़ा देखना चाहता था, रूढ़िगत संस्कारों से ऊपर उठा कर वेदोक्त शिक्षा में स्थित करना, उसी के आधार पर समाज के नव-निर्माण का कार्य, जिनके द्वारा, जिनके लिए करना चाहता था, वे ही उसके मार्ग में बाधक बनते हैं। परंपराओं में जकड़े तथाकथित प्रचलित धार्मिकता की लीक से बाहर आना नहीं चाहते हैं। आध्यात्मिक चेतना की विशालता में आरोहण करने में, उसकी दिव्य संपदाओं से संसार को सजाने में अभिरुचित प्रदर्शित करते प्रतीत नहीं होते हैं। जिसमें आरोहण करने के पश्चात् मनुष्य की दृष्टि से, उसके व्यवहार से दिव्य प्रेम प्रतिबिम्बित होता है। हम मानव मात्र को अपने आलिंगन में बांध लेते हैं। वह हमारा होता है हम उसके होते हैं।

चहुँ ओर अज्ञान, अंधकार देख कर, समाज को अंधतापूर्ण अहंकार से अधिकृत लख कर एक टीस वह अपने हृदय में अनुभव करता है। उसके पास सत्य है और वह किसी को नहीं दे सकता। विश्वात्मा की सीमाहीन अनन्त चेतना मानव मात्र की सत्ता का सत्य है जिसके साथ युक्त होने की चिर प्यास उसकी आत्मा में है और उसमें कोई उठना नहीं चाहता। प्रचलित सामाजिक लीक से बाहर आना नहीं चाहता। जैसे-जैसे समाज में विरोध तीव्रतर होता, सीमा लांघता गोचर होता है, वह भी तन, मन, आत्मा से अपने आदर्श हित स्वयं को झोंक देता है। संसार में, मानव

हृदय में सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए अपने प्राणों की परवाह नहीं करता। उसे अपनी अंतिम परीक्षा की घड़ी समीप नजर आती है, जिसमें अगर उसकी देह शेष रही तो उसकी पूजा होगी और अगर वह छीन ली गई तो स्वर्ग-स्थित उसकी आत्मा की प्रसन्नता के लिए उसकी मूर्ति के अथवा तस्वीर के सम्मुख नित दीप जलेंगे। यही संसार की ओर से सर्वोच्च देन के रूप में उसके लिए किया जाता है। वह संसार से कोई आशा नहीं रखता। उसे कुछ नहीं चाहिये। वह प्रतिष्ठा का भूखा नहीं। वह केवल देना जानता है। देने के लिए संसार में आता है। बलिदान ही उसका जीवन है। जीवन का अर्थ है। वह सब सृष्टिकर्ता परमात्मा की इच्छा पर, उनके चुनाव पर छोड़ देता है और अपनी नियति के भार को वहन करने के लिए मुदित-मन अपने अभियान की दिशा में अग्रसर होता है, मानव-हृदय की असुरता लख कर उसकी दृष्टि में विरोध की भावना देखकर उसकी चिन्ता बढ़ती है। समाज को अंधकार में भटकते देख कर उसका हृदय करुणा से भर उठता है। वह संसार के उद्धार हेतु सब कुछ करने को, सर्वस्व की आहुति देने को प्रस्तुत रहता है। वह घबराता नहीं। एक शूरवीर के समान अंतिम श्वास तक संघर्ष जारी रखने का संकल्प उसकी शक्ति है। कुछ भी हो, कुछ भी आये, वह रंच-भर भी परवाह नहीं करता। उसकी दृष्टि लक्ष्य पर होती है। जगदीश्वर के जरा से इंगित पर सर्वस्व की भेंट चढ़ाने को

उद्यत रहता है। लक्ष्य-सिद्धि के लिए अग्नि का आलिंगन, मृत्यु का वरण कर सकता है।

यही वह स्वर्णिम क्षण है, यही वह अप्रत्याशित घड़ी है जो इतिहास बनती है। यही वह दिव्य मुहूर्त है, जब महान क्रांतियों के बीज बोये जाते हैं, वे जन्म लेती हैं। जब, एक ओर, महान आत्माएँ अपने आदर्श पथ पर आरूढ़ होती हैं, बलिदान के लिए निर्भीक आगे बढ़ती हैं और दूसरी ओर, संसार उनके विरोध में खड़ा होता है, उनके मार्ग में अंगारे बिछाता है। तभी धार्मिक तथा जातीय संकीर्णता की जंजीरें टूटती हैं। अधर्म को धर्म का रूप प्रदान करनेवाले, परंपराओं से चिपके रहनेवाले सृष्टि-मंच से उतार दिये जाते हैं। वे परास्त हो जाते हैं। सत्य की विजय का शंख दिशाओं को आह्लादित करता है। हर वस्तु का शुद्ध, आध्यात्मिक रूप समाज के सम्मुख स्पष्ट होता है। हम धर्म शब्द की सही परिभाषा समझने-समझाने में समर्थ होते हैं। संसार में जो मनुष्य अज्ञानवश अब तक विरोधी शक्तियों के यंत्र के रूप में कार्य कर रहे थे वे सत्य के सैनिक के सम्मुख समर्पण करते हैं। प्राचीनतम श्रुतियों के प्रकाश में समाज सुदृढ़ पगों से अपने दिव्य भविष्य की ओर, आत्म-मंगल की ओर अग्रसर होता है। धर्म, जाति, वर्ण तथा रंग संबंधी सीमाएँ गिरती हैं। आत्मा की विशालता पृथ्वी को अपनी दिव्य गोद में लेती है। मनुष्य के विचार तथा भाव व्यापक होते हैं। धरती के हर कोने को अपने अंदर धारण करते

हैं। मानवता एक सूत्र में बंध जाती है। सब परस्पर एक-दूसरे के सुख की, मंगल की, उन्नति की भावना में डूबे रहते हैं। आकाश में सुनहरा सूर्य उदित होता है। मुक्त समीर स्वर्ग-धरा के बीच बहता है। अज्ञान-निशा को अपना काला आँचल समेटना पड़ता है। एक देवोपम पुरुष की आत्मा के दिव्य आलोक से वसुंधरा का वातावरण जगमग हो उठता है। मनुष्य के विचारों के पीछे से अतिमानस झांकता गोचर होता है। उसकी ज्योति तथा चेतना प्राणियों के भीतर से प्रतिबिम्बित होती है। बलिदान-मूर्ति नर-पुंगव की आत्मा का संकल्प, इंद्रधनुष के समान, धरा को स्वर्ग से जोड़ देता है। मानव, मानवता का अतिक्रमण कर अतिमानवता में पदार्पण करता है।

इस क्रांति का स्वरूप वही होगा जिसकी ओर हमारे पूर्वज, ऋषि-मुनि इंगित करते हैं – उसकी परिपूर्णता, उसकी संसिद्धि। अर्थात् यह जानना कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, जगत क्या है, किसकी रचना है, सृष्टिकर्ता ईश्वर कौन है, वह कहाँ रहता है, उसका स्वरूप क्या है ! जिसके लिए व्यक्ति का आत्म-स्वरूप में सचेतन होना प्रथम अनिवार्य शर्त है।

व्यक्ति-विशेष के अहंकार के शासन से मुक्त होने का संकल्प इस क्रांति का प्रथम व्यावहारिक रूप होगा। धार्मिक संकीर्णताओं की दीवारों से बाहर आना इसका दूसरा चरण होगा। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की विशाल पताका के नीचे

सबको एकत्रित करना तीसरा। सबमें आत्मा के दर्शन करना, सब को आत्म-रूप देखना, 'सर्वभूतः हिते रता' के आदर्श हित जीवन समर्पित करना इसका चतुर्थ चरण कहलायेगा। आत्म-सत्य में, स्वतंत्रता में, प्रेम में, चेतना में उत्थान इसकी चरम परिणति होगी।

सत्य का अन्वेशक, जगत की हर वस्तु तथा प्राणी में "ऋतम्" को विद्यमान देखता है। जो सृष्टि को उसके मूल स्वभाव तथा धर्म में उठाने के लिए, उसमें रूपांतरित करने के लिए वहाँ स्थित है। यह "ऋतम्" एक अंतर्वेग के रूप में हर वस्तु को उसके मूल सत्य की ओर प्रेरित कर रहा है। सभी एक दिन अपने अंतर्निहित सत्य को, उसकी मुक्त अवस्था को प्राप्त करेंगे। सब कुछ अपने उद्‌गम से युक्त होगा। उसकी प्रकृति को धारण करेगा।

भावी उपलब्धि

यह सुंदर सृष्टि एक अनंत दिव्य सनातन सत्ता से उद्भूत हुई है। यह जगत उसी की रचना है, उसकी अपनी आत्म-अभिव्यक्ति है। शास्त्र उसे ईश्वर, परमेश्वर, आत्मा, परमात्मा आदि अनेक भव्य नामों से संबोधित करते हैं। अनेक रूपों में उसका गुणगाण करते हैं। वह सृष्टिकर्ता मानव मात्र का प्यारा हम सबके हृदय में विराजमान है और हमें सृष्टि के मूल उद्‌गम की ओर, जो कि एक अनंत दिव्यता है, विकासोन्मुखी प्रक्रिया के द्वारा, ले जा रहा है।

मानव आत्मा यहाँ अपने विकास के लिए अवतरित होती है। अपने विकास की उच्चतम अवस्था में परम पुरुष के साथ तादात्म्य लाभ करती है। तत्पश्चात् संसार में एक भागवत यंत्र के रूप में मुक्त-भाव विचरण करती है। वह पुरुष सर्वशक्तिमान है, सचेतन है, सर्व संभावनाओं से परिपूर्ण है। अपनी सर्वज्ञ चेतना में जानता है कि वर्तमान युग में हमें किस मार्ग विशेष का अनुसरण करना चाहिये, जगत को किस ओर मोड़ना चाहिये। समाज को एक सूत्र में बंधने के लिए उसके स्वभाव में किन नवीन तत्वों का होना अनिवार्य है और कौन से वे तत्व हैं जो इस दिव्य आदर्श की चरितार्थता में बाधक हैं, जिन्हें यथाशीघ्र पृथ्वी के वातावरण से, मानव हृदय से दूर कर देना चाहिये।

वसुंधरा के नभ से अज्ञान के बादल तिरोहित करने के लिए, मनुष्य जाति का सामूहिक चेतना में उत्थान संभव बनाने के लिए, उसके विकास के स्तर को और ऊँचा उठाने के लिए यह दिव्य पुरुष संसार में सदैव अपने चैतन्य की ज्योतिर्मयी धाराओं के अवतरण संभव बनाता है। वह हमें उन्नत देखना चाहता है क्योंकि वही हम सब का मूल है, हम सब के अंदर निवास करता है। जगत उसके अंदर है। यह उसी का संकल्प है जो हम अपनी आत्मा में देख रहे हैं कि यह जगत उन्नति करे, अपने मूल स्वरूप में, जो कि दिव्य है, रूपांतरित हो।

अगर परमात्मा इस जगत का रूपांतर करना चाहते हैं, अगर मानव जाति को आत्मा के सनातन सत्य में उठाना, एक सूत्र में बांधना चाहते हैं – जिसका व्यावहारिक रूप होगा , पारस्परिक प्रेम, भ्रातृत्व की भावना, सबको समान समझना – तो उसकी संसिद्धि कौन रोक सकता है ? बाधाएँ आ सकती हैं, विरोधी शक्तियाँ उन मनुष्यों को अपना यंत्र बना कर – जिनके हृदय, मन, शुद्ध नहीं, सम्मुख ऊँचे आदर्श नहीं, विचारों में विशालता नहीं – अड़चनें पैदा कर सकती हैं, किन्तु सृष्टि में प्रभु-संकल्प सर्वोपरि है, सब उसी की चरितार्थता है, अतः अंतिम विजय उसी की होगी। और यह भी संभव है कि जिन घटनाओं को हम बाधक समझते हैं, वे बाधक न हों। शायद हमने उनके अर्थ को, अभिप्राय को नहीं समझा है।

उन्हें पहचाना नहीं, उनकी गहराई में प्रवेश नहीं किया। जब सब कुछ उसी एक अद्वितीय पुरुष के संकल्प की अभिव्यक्ति है, तो मौलिक रूप में विरोधी तत्व का होना संभव ही नहीं है ! अतः अगर हमें आपात दृष्टि में कुछ विरोधी प्रतीत होता है, बाधा उपस्थित करता नजर आता है, तो हमें समझना चाहिये कि उसके इस बाह्य रूप के पीछे एक दिव्य तत्व है, और जो रूपांतर हम संसार में लाना चाहते हैं उसमें पूर्णता लाने के लिए है। इस प्रकार बाधा का अर्थ हमारी दुर्बलाताओं के प्रति, कर्म में हमारी अपूर्णता के प्रति इंगित भी हो सकता है। वास्तव में यही होता है। तथ्य यही है। सृष्टि में विरोधी शक्तियों का कार्य यही है। अगर हम वस्तुओं को उनके समग्र रूप में देखने का प्रयास करें तो देखेंगे कि हमारी सर्वांगीण उन्नति में विरोधी शक्तियों का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। कभी-कभी घटनाओं के तीव्र अवांछित मोड़ में से भी एक स्वर्णिम वस्तु का उदय हम देखते हैं। एक ऊर्ध्वमुखी मार्ग अपने सम्मुख खुला पाते हैं। इतिहास साक्षी है – और यह एक व्यावहारिक सत्य भी है – गहन अवसाद से घिरी घड़ियों में, भयंकर नैराश्य में, अंधकार पूर्ण कालों में अप्रत्याशित स्वर्णिम दिव्य उषा का आगमन संभव होता है और एक नये उज्ज्वल भविष्य की नींव का कारण बन जाता है। कुछ भी हो हमें परमेश्वर की सहायता में, उनकी कृपा में अटूट

विश्वास होना चाहिये। उनके पथ-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना करते रहना मानव की सर्वोच्च बुद्धिमत्ता है। यह हमारे शास्त्रों की शिक्षा है। वे इस दिव्य आदर्श से, अलौकिक रस से भरपूर हैं। प्रार्थना के साथ आत्म-विकास का पथ सर्वाधिक सुरक्षित होता है।

धर्म मात्र सोपान है। परम गन्तव्य की प्राप्ति में एक मार्ग है। सभी धमो' में कम या अधिक मात्रा में उसी अनन्त ज्योति-सिन्धु परमात्मा की कुछ दीप्ति विद्यमान है। आगामी मानवता की दृष्टि में कोई धर्म तभी सम्मान का पात्र सिद्ध होगा जब वह मानव सत्ता के गहनतम सत्य को चरितार्थ करेगा। सबको एक परमात्मा की संतान देखेगा। सभी धर्म अपने अपने ढंग से उस एक महिमामय अनन्त देवाधिदेव का आह्वान् करते हैं, उसकी स्तुति करते हैं, कृपा के पात्र बनना चाहते हैं। हमें चाहिये कि हम अधिकाधिक सचेतन बनें। उनकी दिव्य उपस्थिति को अनुभव कर सबसे प्रीतिपूर्वक व्यवहार करें।

परिवर्तन संभव

संकट की घड़ियों में मानव-आत्मा प्रभु-कृपा को पुकारती है। हृदयेश्वर की शरण लेती है, जहाँ सभी प्रेरणाओं का, शक्तियों का उद्गम है, सभी समस्याएँ समाधान लाभ करती हैं। समग्र आत्म-ज्ञान का अमृतमय दिव्य निर्झर वहाँ सदा प्रवाहित है जिसके स्पर्श से सब प्रकार की, सब स्तरों की शंकाएँ निर्मूल होती हैं। हृदय में डुबकी की सीमा नहीं है। गहराई भी असीम है। साधन-प्रक्रिया का कहीं अंत नहीं। हम जितना अधिक गहराई में डूबते जाते हैं, उतना ही अधिक समर्पण का भाव उमड़ता है। पूर्ण नीरवता की स्थिति प्राप्त होते ही हमारी चेतना एक ज्योतिर्मय अग्निशिखा के साथ तादात्म्य लाभ करती है। मानों अंतस्थ देव में समा गए हों। हम खो जाते हैं। पूर्णतः भूल जाते हैं कि हमारा अस्तित्व है। इस स्थिति से जब हम बाहर आते हैं आवश्यक ज्ञान तथा शक्ति से हमारी चेतना भरपूर होती है। हम वही पुराने व्यक्ति नहीं रहते। हमारे चिंतन में नई दिशा फूटती है, जिसके आधार पर हम न केवल अपने वरन् समाज के जीवन को भी आत्मा की अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करते हैं, रीति-रिवाजों में परिवर्तन लाते हैं, उस दिशा में मोड़ने का प्रयास करते हैं, जिसके द्वारा मानव मात्र का आत्म-सत्य में निवास संभव होता है, आत्म-विकास निर्बाध गति से पूर्णता लाभ करता

है – जो कि हमारी प्राचीनतम वैदिक संस्कृति के अनुरूप, उसकी शिक्षा के अंतर्गत होता है।

हमें अपने कर्तव्य का ज्ञान होता है। हम पूर्ण सचेतनता के साथ वस्तु स्थिति का, अपने चारों ओर जगत का अवलोकन करते हैं। भीतर सूर्य के समान प्रकाशमान आत्म-ज्ञान हमारा पथ-प्रदर्शक होता है। ऊपर चेतना के जाज्वल्यमान स्तरों से प्रेरणा की धाराएँ हमारे अंदर उतरती हैं। हम निर्भ्रांत पगों से जीवन-मार्गों पर अग्रसर होते हैं और दूसरों को भी, जो कि हमारी चेतना में अब, हमारे अपने, आत्मीय होते हैं, सहायता प्रदान करते हैं। हमारे विचारों के पीछे, उनके प्रेरक के रूप में वही ज्ञान होता है जिसमें कभी भ्रांति की संभावना नहीं होती। उसके आधार पर हम समाज को वही स्वरूप प्रदान करने का प्रयास करते हैं जो कि प्राचीनतम वैदिक संस्कृति के अनुरूप है।

हर युग-प्रवर्तक का यही वृत्त रहा, यही कर्म, यही पद्धति।

वास्तव में अगर हम सत्ता की गहराई में जायें तो देखेंगे कि मानवता के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करना यह हमारे आत्मा का स्वभाव है। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। उसे संसार में सबसे अधिक सुख की अनुभूति इसी में होती है।

हमारी समस्या

पूर्ण श्रद्धा तथा विश्वास के साथ हम सब मानते हैं कि संसार की वर्तमान स्थिति से भगवान भली प्रकार अवगत हैं। वे देख रहे हैं सर्वत्र अज्ञान का राज्य है। मनुष्य स्वार्थ-भाव में डूबा है। सांप्रदायिक तथा धार्मिक अहंकार ने उसके मन तथा हृदय को अधिकृत किया हुआ है। उसके विचारों की संकीर्णता, समाज में स्थायी सामंजस्य उत्पन्न नहीं होने दे रही है। सीमित दृष्टिकोण धर्म-धर्म में, जाति-जाति में, देश-देश में दूरी को जन्म दे रहा है। मनुष्य पारस्परिकता से दूर होता जा रहा है। संबंध विच्छेदों में बदल रहे हैं, जिसके परिणाम हैं — सामाजिक अशांति, तनाव, कलह, युद्ध। जिसके कारण आज संसार का वातावरण विषैला है, वैमनस्यपूर्ण, पैशाचिक है। वह केवल अपने धर्म को, अपनी जाति को ही उच्च तथा पवित्र समझता है। अपने जातीय स्वजनों में ही सही मानवता देखता है। उसी के द्वारा दूसरी जातियों को शासित देखना चाहता है। और ऐसा करते समय समझता है कि वह एक अति उच्च आदर्श-कर्म कर रहा है। एक ऐसा कर्म — जिसमें संसार का मंगल निहित है। जिसके द्वारा संपूर्ण मानव जाति का सब प्रकार सुखी होना संभव है। इसे ही वह भगवान की इच्छा समझता है।

यह मूढ़ता है। विडम्बना है। मनुष्य के अज्ञानजनित मानसिक अहंकार की चाल है। जो संसार पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने का स्वप्न देखता है – धर्म तथा जातीयता की संकीर्णता में बंद व्यक्ति – इसी के यंत्र होते हैं। जो धार्मिकता हमें दूसरों से, शेष मानवता से पृथक् होने का भाव सिखाती है, किसी भी मूल्य पर अपने धर्म को पृथ्वी के हर कोने में फैलाना चाहती है, दूसरे धर्मों के अनुयायियों को असुर मानती है, ऐसी धार्मिकता के प्रति उन मनुष्य को सचेतन हो जाना चाहिये जिनके अंदर संपूर्ण मानव जाति के कल्याण की भावना सर्वोच्च स्थान ग्रहण कर चुकी है। जीवन के लक्ष्य का रूप ले चुकी है। इन्हें चाहिये कि मानवता की एकता की जड़ पर कुठाराघात करनेवाली इस धार्मिक वृत्ति में संशोधन लाने की, इसे परिवर्तित करने की चेष्टा करें। यह संपूर्ण मानव जाति की समस्या है और हमें इसका समाधान खोजना ही होगा। किन्तु हम अपने स्तर से गिरेंगे नहीं। हमें शास्त्रीय ढंग से धार्मिक रहते हुए आध्यात्मिक चेतना से बिना बाहर आये मानव मात्र के प्रति मंगल भावना हृदय में धारण किये यह महान कर्म करना है। सभी धर्मों का वर्तमान स्वरूप संकीर्ण है। कुछ कम मात्रा में, तो कुछ अधिक। आत्मा की विशालता उनके विचारों में, भावों में अभी चरितार्थ नहीं है। उनका हृदय-कक्ष इसे धारण करने के लिए लघु है। इसके अमिश्रित प्रकाश को ग्रहण करने लिए उनका मन निर्मल

नहीं, जातिगत संस्कारों से प्रभावित है। उसमें स्वाभावगत ग्रंथियाँ हैं। जिसके कारण कोई दिव्य वस्तु प्रवेश नहीं कर पाती। परम सत्य के प्रति, उसकी व्यापकता के प्रति, प्रकृति के प्रति तथाकथित धार्मिक व्यक्ति सचेतन नहीं हैं। ये सारी सृष्टि को एक माला में गुंथे मनकों की भांति एक नहीं देख पाते हैं। दूसरों पर शासन करने का भाव यह प्रमाणित करता है कि हमारा निवास पृथकत्व की चेतना में है। जो एक मिथ्या वस्तु है। महा अज्ञान की उपज है।

आज सभी धर्मों में संशोधन अनिवार्य हो गया है। वर्तमान मानव अपूर्ण है। उसकी चेतना परम चैतन्य को चरितार्थ करने में समर्थ नहीं है। वह ज्ञान-सूर्य की झांकी से भी दूर है। कदाचित् कोई सुनहरी किरण वह अपनी बुद्धि में ग्रहण करता है। किन्तु संसार की वर्तमान दिशा में मोड़ लाने के लिए, उसे आत्म-सत्य में प्रतिष्ठित करने के लिए, उसके जीवन को आत्मा की विशालता का, उसके प्रेम का परिशुद्ध क्षेत्र बनाने के लिए इतना मात्र पर्याप्त नहीं है। आत्म-सत्य में निवास करने के लिए, जीवन को उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रदान करने के लिए, हमें और ऊँचा उठना है, अपने चेतना-स्तर को और विशाल बनाना है, अहंकार से, संकीर्णताओं से मतभेदों से ऊपर उठना है। सरोवर में खिले कमल की भांति नई चेतना के प्रकाश की ओर उद्घाटित रहना सीखना है। सत्य का महत्व हमारी

चेतना में इतना बढ़ जाना चाहिये कि उसके लिए प्राणों की बलि चढ़ा देना सामान्य-सी घटना हो।

हमें समझना चाहिये, अंत में वस्तुओं के आंतरिक सत्य की ही विजय होती है हमारे संकल्प की, सिद्धांतों की, आदर्शों की नहीं। वस्तुओं का अंतर्निहित सत्य आत्मा का चरम एकत्व है। उसी की ओर संपूर्ण सृष्टि ज्ञान में या अज्ञान में अग्रसर हो रही है। सृष्टि जब परमात्मा के संकल्प की सीधी अभिव्यक्ति का रूप धारण करेगी, मानव मात्र परस्पर इस एकत्व की चेतना में बंधा अनुभव करेगा। सबको अपना सखा देखेगा, आत्मीय अनुभव करेगा। चेतना के उस स्तर पर हमारे लिए प्राणी मात्र समान होता है। हम सबको समान भाव से प्रेम करते हैं। सबका मंगल चाहते हैं। सबको सुखी, आत्म-विकास के पथ पर अग्रसर देखना चाहते हैं।

दूसरी ओर, हम देख रहे हैं उस कृपा-सिंधु ने मनुष्य की सहायतार्थ एक नई चेतना पृथ्वी पर उतारी है। जिसे श्रीअरविन्द ने अतिमानस नाम प्रदान किया है। यह मनुष्य की सीमित चेतना में विशालता लायेगी। उसके विचारों में दिव्यता प्रकट करेगी। जिसके परिणाम स्वरूप मानव-जीवन आत्म-सत्य पर, आत्मिक विशालता पर प्रतिष्ठित होगा। मानव क्षुद्रता से बाहर आयेगा, संकीर्णता से ऊपर उठेगा, मानव मात्र को अपना मित्र, सखा, भ्राता देखेगा। एक पिता की संतान के रूप में सबके साथ साथ मिलकर चलेगा।

उन्हें अपने स्वजन अनुभव करेगा। उन्हें सुखी करने के लिए, प्रगति-पथ पर आरूढ़ करने के लिए सब संभव प्रयास करेगा। यहाँ तक कि, अगर अनिवार्य हो, अपना बलिदान करने को भी तत्पर रहेगा।

अतिमानसिक चेतना अपने द्वितीय चरण में मानवता को अज्ञान से मुक्त करेगी। अपनी ज्योति से उसके मन-हृदय को ज्योतिर्मय करेगी। उसके विचारों में, भावों में उच्चता आयेगी, विशालता झलकेगी, आत्मीयता प्रतिबिम्बित होगी। परम सत्य की अभिव्यक्ति ही उसके जीवन का स्वरूप होगा। शासक होने का भाव, अपने आपको महान घोषित करने की वृत्ति, प्रतिष्ठा की भूख उसे स्पर्श नहीं करेगी। समाज के सेवक के रूप में, समाज के लिए जीवन-यापन करना ही उसकी प्रसन्नता का स्रोत होगा। कारण, वह देख चुका है कि नई चेतना उसकी आत्मा के पीछे से उसे उसी ओर प्रेरित कर रही है, जहाँ सब अपने हैं, कोई पराया नहीं। "मम आत्मा सर्वभूतात्मा"। सारा संसार एक परिवार है। "वसुधैव कुटुम्बकम्"। मानव मात्र परमात्मा की प्रतिमू र्ति है अतः उसके हित में रत रहना – "सर्वभूतः हितेरता" ही कर्मों में श्रेष्ठ कर्म है, आदर्शों में सर्वोच्च आदर्श है, भावों में सर्वोत्कृष्ट भाव है।

एकत्व – चरम सत्य

एकत्व परम सत्य है। संपूर्ण सृष्टि अपने प्राणियों और पदार्थों के साथ अपने भीतर और बाहर से आत्मा के एकत्व में बंधी है।

हे मनुष्यो ! एकता का महत्व समझो। एकता में उठो। एकता ही सत्य है। एकता में ही स्थायी शांति है, सुख है, उन्नति है। यह एकता चरम अस्तित्व की है, परम आत्मा की है। उसी पर आधारित है। उसी की अभिव्यक्ति है। यही यहाँ या वहाँ पदार्थों का अंतर्निहित सत्य है। आत्मा का यह एकत्व अमृतमय है। आनन्द के अनंत सिंधु को जो तत्व धारण करता है, परम आत्मा का, उस परम पुरुष का यह एकत्व ही है।

शास्त्र हमें बार-बार समझा रहे हैं कि हम एक परमात्मा की संतान हैं, एक पृथ्वी माता के अन्न-जल से हमारा पालन होता है। एक सूर्य से हम सब जीवन पाते हैं। हमारा उद्‌गम एक है। गन्तव्य एक है। लक्ष्य एक है। जिसकी प्राप्ति के लिए हमें संसार में तब तक आते रहना होता है जब तक हम उसे प्राप्त न कर लें। वह लक्ष्य है अपनी सत्ता के तथा जगत सत्ता के सत्य को पाना, अर्थात् उस परम पुरुष का दर्शन करना, उसके साथ तादात्म्य लाभ करना, जो सबका मूल है। यह सृष्टि जिसका अपने अंदर, अपना आत्म-विस्तार है। जो एक है, अद्वितीय है। आदि-अन्त

विहीन सनातन सत्य है। जिसे पुराण पुरुष भी कहा है। जो चैतन्यमय है, आनन्दमय है, दिव्य है।

हे मानव ! कृतज्ञता में डूब ! कृतज्ञ होना सीख ! कृतज्ञता महान गुण है। पृथ्वी पर तेरे आगमन से सहस्त्रों वर्ष पूर्व तेरे पथ-प्रदर्शन के लिए, जीवन-मार्गों पर तेरी सुविधा के लिए, सहायता के लिए, मार्ग निष्कंटक करने के लिए परमात्मा ने अपने ज्ञान की किरणों से तेरा पथ उज्ज्वल किया। शुद्ध-हृदय ऋषियों के अंतर्मन में परमात्मा की वाणी का उदय हुआ। तेरे लिए शिक्षा के रूप में तुझे वेद प्रदान किया। जीवन-मार्गों पर उचित दिशा में, उचित भावों को अपनाकर चलने के लिए, सत्य-असत्य को ठीक-ठीक समझने के लिए विवेक रूपी प्रदीप तेरे हृदय में प्रज्वलित किया।

मनुंष्य नहीं जानते, जब हम प्रभु से कुछ छिपाते हैं —वास्तव में छिपा तो सकते नहीं, फिर भी अज्ञान वश अपनी ओर से प्रयास करते हैं— तब भगवान भी हमसे छिप जाते हैं। अगर हम अपने हृदय को पूरी तरह उनकी ओर उद्घाटित करें तो वे भी अंधकार को चीर कर हमारे सम्मुख आ जाते हैं।

प्रभु चरणों में

कभी-कभी भीगी आँखें लेकर भी लिखता हूँ। वह तब, जब मेरी लेखनी जगत-पिता के संबंध में, उस प्रियतम के संबंध में लिखने का, कुछ कहने का प्रयास करती है, जिसे हर पदार्थ के भीतर, हर प्राणी के अंदर, हर मनुष्य के हृदय में उपस्थित देखता हूँ और वह मुझे देखता है। जब मेरे इन नयनों से उनका अतुल तेज सहन नहीं होता, आत्मा उनके वर्णनातीत माधुर्य का स्पर्श प्राप्त कर खिल उठती है, उससे दिव्य पराग झरता है। जब भावों में हृदय की गहराई झलकती है, उच्चता प्रतिबिम्बित होती है, अपने आपसे, दुनिया से दूर होकर ज्योतिर्मय नीरवता में डूब जाता हूँ। परमात्मा का प्रकाश, दिव्य हस्त के रूप में मेरे सिर पर होता है। तब ! हाँ तभी, मेरे अंतर का गूंगापन बोल उठता है, सुप्त चेतना जागती है, दृष्टि प्राप्त होती है। हृदय-कमल अपनी युगों पुरानी बंद पंखुड़ियाँ खोलता है, उर-वातायन का सुवासित पवन दिव्य गंध लेकर प्राणों पर लेप करता है। कोई शब्दों के बिना बोलता है, परावाक् कुंडलियाँ खोल ऊपरी सतह पर आती है, शब्दों में मुखरित होती है। भीतर बैठा मैं सिर के ऊपर अंतश्चक्षुओं से खुले नील गगन को निहारता हूँ। उस अलौकिक दृश्य को हम कुछ इस प्रकार व्याख्यायित करेंगे – प्रेरणाओं के मेघों से बूंदें जब टपकती, स्फूर्ति के सिंधु से लहरें जब उछलती, जहाँ वे

गिरती, मानस जो ग्रहण करता, उसका रूप कुछ लगे हम निहारने, रस अनुभूति का लगे पान करने। अब इस व्यक्तित्व के पीछे व्यक्ति अन्य, जीवन के पीछे जीवन भिन्न देखते हैं। अपना रूप परिवर्तित और परिवर्तित अपने चहुँ ओर जगत भी पाते हैं। हम चिंतन में डूबते और मनन में तिरते हैं। सो कैसा, कभी-कभी सरोवर में अर्ध खिले श्वेत कमल जैसा, जिसमें अंतर्सत्ता अत्यंत उत्कंठा के साथ भगवान भास्कर की ओर निहारती है। भीतर दिव्य स्फुलिंग अपने पूर्ण विकास के लिए प्रार्थनारत, प्रयासरत, संघर्षरत है, 'सोऽहमस्मि'। वही मेरा सत्य स्वरूप है। वह मैं हूँ।

दूर हृदय की गहनतम गहराई में एक वरदान हर मानव-आत्मा के लिए सुलभ है, जो अत्यंत सावधानी के साथ सुरक्षित रखा गया है। हम जब चाहें उसका उपयोग कर सकते हैं और तथाकथित नियति को बदल सकते हैं। प्रश्न है वहाँ पहुँचने का और उसके उपयोग की विधि को जानने का। उसके पश्चात् सब सुख ही सुख है। वह विषय योग साधना का है। योग के द्वारा हम वहाँ पहुँच सकते हैं, विधि जान सकते हैं।

हम सब एक हैं

हम सब एक हैं और एक स्वर्णिम प्रभात में हम देखेंगे कि यह तथ्य हम सबका अपना अनुभव है। हम इसे स्वीकार करेंगे। अपने जीवन में चरितार्थ कर आनंदित होंगे। मुझे इस विचार की संसिद्धि में लेश मात्र भी संदेह नहीं है। कारण, मैं जानता हूँ कि यह विचार उसी परम पुरुष की, आदि शक्ति की देन है। जिसने यह जगत रचा है, जो सबका मूल है। जिसे हम भिन्न-भिन्न धमो' में, भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। सभी शास्त्र जिसकी महिमा का गान करते हैं। प्राणी मात्र के हृदय में जो विराजमान है, स्वभाव से सबका प्यारा है, दयालु है, सत्यमय, चैतन्यमय, आनन्दमय है।

हम सब एक हैं। पृथ्वी हमारी माता है। हम उसकी संतान हैं। पिता के रूप में एक ईश्वर हमारी सत्ता के पीछे, सूक्ष्म हृदय में विराजमान है। एक सूर्य के आलोक में हम सब पल रहे हैं। एक ही पवन हमारे जीवन का आधार है। हम सबका मूल, हमारा गन्तव्य एक है। प्राप्तव्य एक है। एक ही प्रकृति में हमारे जीवन क्षेत्र मकड़ी के जाले की भांति युक्त हैं। जाला एक है। जाले में खंड अनेक दिखाई दे सकते हैं। विश्व-वृक्ष का बीज, उसका मूल एक है। शाखएँ कितनी भी हों वृक्ष एक है। विस्तार कितना भी महान हो प्रकृति एक है। एक चेतना से हम चेतन हैं। एक प्राण से प्रणोदित हैं। एक आत्मा की हम सब अभिव्यक्तियाँ हैं। एक

दिव्य संकल्प हमारा सहारा है। एक परमात्मा की हम सब रचना हैं। एक माला के मनके, एक माली की सृष्टि, एक उपवन के पुष्प हैं। एक पालने में पलनेवाले, धरती माता की एक गोद में खेलनेवाले नन्हें शिशु हैं। एक प्रकृति माता के दूध से पले, उसके होनहार बालक हैं। एक दिव्यता हम सब का अपना गृह है। एक अमृत-सिंधु के हम सब वासी हैं।

एक दिन हम आत्मा में जागते हैं। हृदय का पर्दा हटता है। नई चेतना हमारे मन-बुद्धि को प्रकाशित करती है। हमारी समझ में यह भली प्रकार आ जाता है कि संसार में भगवान की इच्छा के अनुसार बरतना, उनका आदेश पालन करना ही मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। संसार का सर्वोच्च आदर्शमय कर्म भी अगर आत्मा के द्वारा स्वीकृत नहीं है हमें नहीं करना चाहिये। आत्म-चेतना से बाहर आकर कोई भी कर्म, चाहे वह हमारी दृष्टि में कितना भी महान हो, कर्तव्य रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिये। कारण, ऐसी स्थिति में वह हमारे अहंकार के द्वारा चुना होता है। जो अपने आपमें एक अज्ञान जनित क्रिया होती है।

सब आये और गये

इस संसार को देखने की सबकी अपनी दृष्टि है। ऋषि-मुनियों ने, आचार्यों ने, संन्यासियों ने इसे अपने-अपने ढंग से देखा, और जिसने जैसा देखा, वैसा कहा। किसी ने इसे प्रभु की लीला कहा, किसी ने मिथ्या, माया। किसी ने असार-सा सिलसिला, पदार्थों का एक प्रवाह मात्र। किसी के कहने से संसार में, इसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया। यह जैसा था, वैसा है। हम जैसा देखते जाते हैं, वैसा कहते जाते हैं। ऐसा भी देखने में आया है कि आज हमें जैसा दिखायी दिया वैसा हमने कह दिया और अगर कल हमें भिन्न प्रकार का दिखायी दिया तो हमने अपना मत बदल दिंया। व्यक्ति बदलते हैं, उनकी चेतना बदल जाती है। दृष्टि बदलती है, दृष्टिकोण बदल जाते हैं। एक के बाद दूसरे आचार्य आते हैं और वे पहले के स्थान पर अपना मत दूसरे ढंग से प्रस्तुत करते हैं। ऐसे ही बहुत से मत आये और गये। बाजार की भीड़ की तरह 'वाद' आये और शांत हो गये। अपने-अपने समय में सभी ने श्रेष्ठ से श्रेष्ठ शंख फूंके, बिगुल बजाये, भीड़ एकत्रित की, जो कहना था कहा। जहाँ से जो आया था, जिसका जो स्थान था, वहाँ लौट गया। सभी ने संसार में, मानव-जीवन में, परिवर्तन लाने का, धरती के निवासियों को जगाने का, उनकी समस्याएँ सुलझाने का भरसक प्रयास किया था। मानो यह संसार एक सुंदर,

सुशोभन, उपवन हो और आने वाला हर माली इसे अपने ढंग से, कुछ श्रेष्ठ कुछ सुरम्य बनाना चाहता था। ये सभी मान्य हैं। हम इनके प्रति कृतज्ञ हैं। यह इन्हीं के अलौकिक पुरुषार्थ का परिणाम है कि हम उस नींव पर खड़े हैं जिस पर एक अपूर्व , मानव कल्पना के परे, दिव्य संसार की रचना, जिसे हम नया जगत कहेंगे, संभव हुई है। संसार में अतिमानस का अवतरण हुआ। और पृथ्वी पर मानव तथा उसके जीवन की आत्म-दिव्यता में रूपांतरित होने की संभावना उत्पन्न हुई।

आत्म-प्राप्ति के साधन हर युग में अनेक प्रकार से वर्णन किये गये हैं। उनसे हमारे शास्त्र भरपूर हैं। अगर हम एक शब्द में कहें तो हमें कहना होगा– आत्मा, आत्मा के चिंतन और मनन से प्राप्त होता है। ऐसा चिंतन और मनन जिसे करते-करते हम तद्रूप हो जायें। समिधा जलते-जलते अग्निरूप हो जाये। अग्नि ऊपर उठते-उठते वायुरूप हो जाये।

जागृति

आडम्बरों का, दिखावे का युग चला गया है। चिह्न लगाकर अपने आपको प्रदर्शित करना, जो कि भीतर अपनी चेतना में हम नहीं हैं, अब एक अति निम्न वस्तु, अति तुच्छ प्रवृति समझा जाने लगा है। मानवता अब वास्तविकता की ओर बढ़ रही है। सभी इस शास्त्रीय वाचा पर एकमत हो गये हैं, होते जा रहे हैं, "अगर हम हैं तो हमें दिखाने की आवश्यकता नहीं।" दिखाने की आवश्यकता तो वहीं होती है, हम अपने आपको वहीं जताना चाहते हैं, जताने का प्रयास करते हैं, जहाँ हम वास्तव में अपने आंतरिक स्तर पर, स्वभाव में, अपनी स्वाभाविक चरितार्थता में, अपने कर्मों में, विचारों में, भावों में वैसे नहीं होते।

आज हम सभी यह मानते हैं कि आंतरिक त्याग ही सच्चा त्याग है। आत्म-उपलब्धि का सही मार्ग है। मन-हृदय से कामना-वासना का, राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, आसक्ति का त्याग ही सच्चा त्याग है। जब हम अपने सच्चे स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, ये सब वस्तुएँ हमारे लिए विजातीय हो जाती है। हमें इनकी दासता से छुटकारा पाने के लिए जीवन-क्षेत्र को, अपने कर्त्तव्यों को त्यागने की आवश्यकता नहीं होती। हम संसार का त्याग किये बिना, जीवन से पीछे हटे बिना, निष्क्रियता को स्वीकार किये बिना भी, आत्म-साक्षात्कार कर सकते हैं। जगत को मिथ्या-माया,

एक धोखा समझे बिना भी भगवान को प्राप्त कर सकते हैं। संसार में अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए अपनी व्यक्तिगत सत्ता का तथा साथ ही जगत सत्ता का सारभूत सत्य उपलब्ध कर सकते हैं।

* * *

जो प्रतिष्ठा का भूखा है, जिसे प्रशस्ति चाहिये, जो अपने नाम के लिए जीता है और उसके लिए कुछ भी करने को तैयार है वह शुद्ध यंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता, संसार में भागवत यंत्र नहीं हो सकता। प्रभु के द्वारा नहीं चुना जा सकता। वह अपने लिए, अपने क्षुद्र अहंभाव के लिए, उसकी संतुष्टि के लिए जीता है। ऐसा व्यक्ति घोर अज्ञान में निवास करता है। जिस मार्ग से मनुष्य आत्मा को उपलब्ध करते हैं, जिससे होकर आत्मा में निवास संभव बनाते हैं, उससे यह विपरीत है। ऐसे व्यक्ति को शास्त्रों में भ्रांत-चित्त कहा है। वह माया में डूबा है, अचेत है।

जो शारीरिक सुखों में, इंद्रिय-भोगों में आसक्त हैं, जिनकी दृष्टि केवल अपने परिवार तक ही सीमित है, जो देह में पूर्णतः आसक्त हैं और परिवार से परे कुछ भी देखने-सोचने में असमर्थ हैं, ऐसे कूप-मंडूकों से देश का, जाति का, धर्म का कल्याण होना संभव नहीं। ये अपने लिए जीते हैं, अपने लिए ही मरते हैं।

अतिक्रमण — अनिवार्य चरण

सत्य असीम है। सीमाओं में बंधते ही वह अपनी मौलिकता से दूर होने लगता है। सीमित व्यक्तित्व में सत्य अपने आपको पूर्णतः चरितार्थ नहीं कर सकता। अतः हमें चाहिये कि व्यक्तित्व की, व्यक्ति चेतना की परिधि से बाहर आयें, इसका अतिक्रमण करें। एक विशाल चेतना में अपनी चेतना का केन्द्र संभव बनायें। तभी हम विचारों की, धारणाओं की, दृष्टिकोणों की सीमाओं से ऊपर उठने में समर्थ होंगे। देश, जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय की सीमाओं में बद्ध रहते हुए हम उस परमोच्च विचार को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकते जो हमें असीम, सभी प्रकार की सीमाओं से परे, अनंत सत्य के साथ जोड़ता है, उसमें उठाता, उसमें हमारा निवास संभव बनाता है। एक बार जो व्यक्ति आत्मा की इस विशालता का स्पर्श अपनी चेतना में प्राप्त कर लेता है, उसका व्यवहार बदल जाता है। वह सीमित चेतना में निवास करनेवाले व्यक्ति के समान व्यवहार नहीं करता। उसमें घुटन अनुभव करता है। विशालता में ही सच्चा सुख है, विशालता सद्वस्तु का स्वभाव है।

यही बात धर्म के विषय में भी कही जा सकती है। नई आध्यात्मिकता में प्रचलित धर्म नहीं रहेंगे, वे समाविष्ट हो जायेंगे। नई आध्यात्मिकता जगत और जीवन के त्याग का

पाठ नहीं पढ़ाती। वरन्, उन्हें स्वीकार कर आत्मा की दिव्यता में उनका रूपांतर संभव मानती, उनके दिव्यीकरण में विश्वास करती है। मनुष्य धर्म को, सच्चे और वास्तविक धर्म को, उस धर्म को जो कि हमारी आत्मा ने हमारे लिये नियुक्त किया है, जो कि हमारा स्वाभाविक अर्थात्, आत्मिक धर्म है, उस परम धर्म को नहीं जानता है। उसके विषय में सचेतन नहीं है। और न यह जानता है कि उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। इसीलिए जिन रीति-रिवाजों को, कर्मकांडों को, नियमों को उसके माता-पिता ने बताया या आचार्यों और पैगम्बरों ने सिखाया या उसकी शिक्षा और सभ्यता ने प्रदान किया, उन्हीं कर्मों को, क्रिया-विधियों को धर्म समझता है। जो कि वास्तव में कुछ संस्कारों की एक धूमिल-सी छाया होती है या स्वभाव और आदतों के अनुकूल होती, उन पर निर्भर करती है अथवा उस समय के शक्तिशाली सम्प्रदाय के द्वारा हमारे ऊपर थोप दी जाती है, जिसे अपनाने के लिए हमें बाध्य किया जाता है, उसे ही हम अपनाते और धर्म की संज्ञा प्रदान करते हैं।

वर्तमान समाजों में धर्म का स्थान, धर्म का स्वरूप यही है। यही उसकी परिभाषा की और समझी जाती है।

जिन कर्मों को हम आज धर्म कहते हैं, जैसे दया करना, परोपकार करना, सेवा करनी, प्रेम करना इत्यादि, उनमें से कुछ कर्म जो मानव आत्मा को महान बनाते और विश्व आत्मा से युक्त करते हैं, उसके मन-हृदय को एक

ऐसी चेतना में उठाते हैं जो सामान्य मानव चेतना की परिधि की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल है, वे कर्म धार्मिक कहे जा सकते हैं लेकिन धर्म नहीं। धार्मिकता और धर्म दो पृथक् चीजें हैं जैसे आध्यात्मिकता और अध्यात्म या आत्मा दो पृथक् वस्तु हैं। आध्यात्मिक जीवन आत्मा नहीं है। ऐसे ही धार्मिक क्रियाएँ, नियम या रीति-रिवाज धर्म नहीं हैं। आध्यात्मिक जीवन आत्मा से प्रेरित-प्रभावित, शासित और अभिव्यक्त जीवन होता है, धार्मिक जीवन और कर्म भी धर्म से शासित, प्रेरित, प्रभावित और अभिव्यक्त होता है।

हमें आध्यात्मिक भाव से ही संतुष्ट नहीं होना है, वरन्, आत्मा बनना है। हमारे मानस-भाव दिव्य हों यही पर्याप्त नहीं है। हमारे कर्म, हमारा आचार-व्यवहार सब दिव्य होने चाहियें। सम्पूर्ण व्यक्तित्व में अंतस्थ आत्मा की दिव्यता झलकनी चाहिये। जो मूल है, जीवन का उद्गम है, उसी की अभिव्यक्ति जीवन होना चाहिये। वैसे ही हमें धार्मिकता से संतुष्ट नहीं होना है वरन् सच्चे धर्म को, धर्म की आत्मा को पाना है। उसके साथ एक होना है, वही बनना है। धर्म एक है, जैसे सत्य एक है। मनुष्यों के रीति-रिवाजों में, क्रिया-पद्धतियों में, उनके रहन-सहन में, खान-पान में अन्तर हो सकता है लेकिन आत्मा में नहीं। इसी भांति पृथक्-पृथक् देशों में, समाज और राष्ट्रों में, धर्म-भावना को प्रकट करने का ढंग भिन्न हो सकता है, धर्म की आत्मा भिन्न नहीं हो सकती। जो सच्चे देश-प्रमी होते हैं, वे किसी

भी देश में हों, समान रूप से अपने देश को प्रेम करते हैं। देशभक्ति सर्वत्र एक है। प्रेम सर्वत्र एक है। भले ही प्रकटीकरण के रूप परिस्थिति के अनुसार बदले हुए हों। वास्तव में मूल धर्म एक है। जो विविधता, जो भेद, जो भिन्नताएँ हम देखते हैं वे धर्म में नहीं, धर्म की आत्मा में नहीं है। लेकिन यह पूर्ण दृष्टि मानव आत्मा बिना किसी विशेष चेतना-स्तर को प्राप्त किये, आत्मा की विशालता में प्रवेश संभव बनाये नहीं प्राप्त कर सकती। साधारण चेतना में रहते हुए यह समग्र दृष्टि सदा उसकी पहुँच के परे रहेगी। यही कारण है कि हम धर्म को, उसके मूल को न समझ पाये। धार्मिकता को ही धर्म समझते रहे और धार्मिकता अपनी चरितार्थता में देश, काल तथा पात्र के कारण सदा विविध रहती है। प्रचलित धर्मों के स्वरूप में जो विविधता हम देख रहे हैं उसका कारण यही है। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह सर्वप्रथम अपनी चेतना का विस्तार करे, आत्मिक ज्ञान, आत्मिक दृष्टि प्राप्त करे। अपने अन्दर आत्मा को उपलब्ध करने के पश्चात् ही वह प्राणियों तथा पदार्थों में परमात्मा का दर्शन कर सकता है। तभी वह धर्म की आत्मा को भी देख सकता है। जब वह आध्यात्मिकता में उठेगा तभी उसके लिए यह समझना स्वाभाविक होगा कि धर्म किसे कहते हैं और मानव-जीवन में उसकी क्या उपयोगिता है, उसका क्या स्थान है। कारण, आध्यात्मिकता में ही धर्म की चरम परिणति है। आध्यात्मिकता में ही वह

पूर्णता प्राप्त करता है। बिना आध्यात्मिकता के धर्म एक ढांचा भर है और उसका महत्व उतना मात्र ही है जितना बिना आत्मा के पदार्थ का। श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुसार मनुष्य आध्यात्मिक बनकर ही, आत्मा को, परमात्मा को प्राप्त करके ही, यह समझेगा कि आध्यात्मिकता धर्म का त्याग नहीं करती, बल्कि उसको परिपूर्ण करती है। धर्म की सार्थकता, उसकी परिपूर्णता आध्यात्मिकता में ही है। अतः मनुष्य का उद्देश्य, उसकी आत्मा का लक्ष्य धार्मिक बनाना कभी नहीं हो सकता। इतने मात्र से, इस सीमित-सी, सामान्य-सी उपलब्धि से, उसकी आत्मा कभी संतुष्ट नहीं हो सकती। मानव आत्मा की प्यास तो तभी मिटती है जब वह स्थायी रूप से उस अमृत-सिंधु में, अनंत आनंद-अंबुधि में निवास करने लगती है जो अनादि है, शाश्वत है।

आत्मा की ज्योति तथा चेतना से ओत-प्रोत जीवन – जिसे हमने दिव्य जीवन की संज्ञा प्रदान की है – पृथ्वी की अवश्यंभावी नियति है।

मनुष्य नहीं समझ रहे हैं। विश्व-विधान अपने मूल में परिवर्तित हो चुका है। पृथ्वी के वातावरण में अतिमानसिक चेतना नये स्पंदन विकीर्ण कर रही है, जो मानव-स्वभाव को सब प्रकार की संकीर्णताओं से, जातीय तथा धार्मिकता की सीमित भावनाओं से, अहंकार के द्वारा निर्मित परिधियों से, स्वार्थ-भाव को आगे रख कर चलनेवाले दृष्टिकोणों से मुक्त करेगी, उसे आध्यात्मिक चेतना की विशालता में उठायेगी। उसकी गति अति धीमी है। कारण, मानव-चेतना अपने प्राचीन स्वभावगत अज्ञान से आच्छादित है। इसमें उद्घाटन की पूर्ण संभावना है, किन्तु इस समय यह उद्घाटित नहीं है।

हम देख रहे हैं अतिमानसिक चेतना दिन-दिन मानव-चेतना को अधिकृत कर रही है, विश्व-चेतना में प्रवेश संभव बनाने के लिए उसके ऊपर दबाव डाल रही है। उसे एक उच्च, दिव्य जीवन में, जो आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत होगा, उठने के लिए प्रेरित कर रही है। दिव्य जीवन में प्रचलित धार्मिकता का स्थान आध्यात्मिक चेतना ग्रहण करेगी। मनुष्य एक दूसरे के अंदर भागवत उपस्थिति का दर्शन करने में समर्थ होंगे, परस्पर एक दूसरे को प्रेम करेंगे, सम्मान की दृष्टि से देखेंगे, भ्रातृत्व की भावना से भरपूर होंगे, तथाकथित धर्मों के बाह्य रूप से पीछे हटेंगे। धर्म के बाह्य स्वरूप पर, धर्म-शास्त्रों पर ही नहीं ठहरेंगे,

वरन् आत्मा के संकल्प की चरितार्थता को, उसके आदेश-पालन को प्रथम स्थान प्रदान करेंगे। आत्मा की प्रेरणा के अनुसार जीवन-मार्गों पर अग्रसर होंगे। मानव धर्म के मूल में प्रवेश संभव बनायेगा। धार्मिक शिक्षा के गहनतम सार को समझेगा, धर्म की आत्मा का दर्शन करेगा। उसका स्पर्श अपनी चेतना पर अनुभव करेगा। फलस्वरूप हम अपने बौद्धिक युक्ति-तर्कों को उसके दिव्य प्रकाश में डूबा पायेंगे। धर्म को एक सोपान के रूप में प्रयोग कर अपनी सत्ता की गहराई में उतरेंगे। धर्म का आश्रय ग्रहण कर आत्म-ज्ञान में गोता लगायेंगे और ज्ञान के आधार पर धर्म के बाह्य स्वरूप में आवश्यक सार्थक परिवर्तन लायेंगे। हम धर्म को उसके प्रचलित रूप में – जिसमें कुछ परम्परागत प्रथाएँ, रीति-रिवाज, मान्यताएँ, परिपाटियाँ ही धर्म के नाम से प्रदर्शित की जाती हैं – स्वीकार नहीं करेंगे। धर्म के इस रूप को हम धार्मिकता नहीं कहेंगे, इसे एक ओर छोड़ते हुए धर्म के शुद्धतम रूप का सहर्ष स्वागत करेंगे जो अपने आपमें एक अति महान वस्तु है, सृष्ट वस्तुओं का अंतरतम स्वभाव है। किसी पदार्थ का आंतरिक भाव ही उसका स्वभाव, स्वाभाविक धर्म होता है। आत्म-धर्म ही पदार्थ का, प्राणिमात्र का धर्म है। मनुष्य जब उसके अनुसार जीवन-लक्ष्य निर्धारित करेंगे, जीवन का उच्चतम सार खोजेंगे, तब चेतना के जिस स्तर पर वे आज स्थित हैं, जिस प्रकार का जीवन यापन कर रहे हैं, उसे ठीक उसी प्रकार

यापन करने में कठिनाई अनुभव करेंगे। वे अज्ञान से, पृथकत्व की चेतना से बाहर आना चाहेंगे। आत्म-ज्ञान में प्रतिष्ठित होना, अपने सच्चे स्वरूप का बोध प्राप्त करना, सृष्टिकर्ता का दर्शन करना चाहेंगे। वे एकता के मूल्य को, पदार्थों में निहित मूल एकत्व के महत्व को समझेंगे, उनके हृदय में उसकी भूख जागेगी, वे उसकी मांग करेंगे।

आज मनुष्य की मानसिकता को हम धीरे-धीरे आत्मा की दिव्यता की ओर अभिमुख होते देख रहे हैं। अतिमानस अपना ज्योतिर्मय स्वर्णिम अग्नि स्फुलिंग उसकी बुद्धि की कोशिकाओं में प्रतिष्ठित कर रहा है। अनायास मनुष्य को उच्च विचार अधिकृत करेंगे। उसकी चेतना में विशालता की लहरें हिलोरें लेंगी। वह भुजा फैलाये सम्पूर्ण मानवता को आलिंगन में बांधने के लिए अपने मन-भवन की दीवारों से, वातायन हीन हृदय-कक्ष की घुटन से बाहर आयेगा। समाज के वर्तमान स्वरूप से वह ऊब गया है। पग-पग पर संकीर्णता की जंजीरें उसे खलने लगी हैं। सांप्रदायिकता से वह तंग है, जिसके कारण उसे न चाहते हुए भी ऐसे कर्म करने पड़ते हैं जिनकी अनुमति उसकी आत्मा प्रदान नहीं करती। जिनके लिए वह संतप्त अनुभव करता है। उसका अंतर जलता है। एक विस्फोट की संभावना में वह जीवन की घड़ियाँ गुजार रहा है। समाज की ही नहीं, उसे अपने व्यक्तित्व की सीमाएँ भी कचोट रही हैं। वह सब प्रकार के बंधनों से, सीमाओं से बाहर आना चाहता है। सब सीमाएँ

तोड़कर एक सीमाहीन अनंत, ज्योतिर्मय नभ में श्वास लेना चाहता है। जहाँ स्वर्गिक सुखद समीर सदा निर्बाध बहता है। वस्तुओं में छिपे सत्य का दर्शन करने की प्यास उसके हृदय में उभर रही है। वह एक अध्यात्म भावापन्न आदर्श समाज की स्थापना चाहता है। वह एक ऐसी चेतना में उठना चाहता है जिसे प्राप्त कर मनुष्य की समाजिक, धार्मिक तथा जातीय समस्याएँ, जिनका कारण मानव की संकीर्ण मानसिकता है, समाधान लाभ करेंगी। जहाँ मनुष्य, मनुष्य से प्रेम करे, उसे अपना भाई समझे, संसार को एक परिवार देखे। सब मिलकर चलें, मिलकर उन्नति करें, एक-दूसरे के दुख को अपना दुख समझें, दूसरों को सुखी देखकर सुख अनुभव करें। वह मानवता को एक सूत्र में बंधा देखने का इच्छुक है। उसका मंगल देखने का अभिलाषी है। यह उसके आंतरिक स्रोत से प्रवाहित सतत कभी न सूखनेवाली मंगलमयी प्रार्थना-धारा है। *सर्वेभवन्तु सुखिनः*। एक ऐसा पथ-प्रदर्शक उसकी खोज का प्रथम विषय है जो सृष्टि में उद्भूत पदार्थ मात्र को गले लगाता हो, प्राणी मात्र को हृदय में धारण करता हो – सब जिसके अपने हैं, जो अपने लिए नहीं, सबके लिए है – अगर उसे कहीं मिले तो वह उन पावन चरणों में बैठने का अभिलाषी है।

अतिमानस अपनी शक्ति तथा चेतना के साथ संसार में विद्यमान है और मानव-जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में, आत्मा की दिव्यता में रूपांतरित करने में संलग्न है। शीघ्र

ही मनुष्य पदार्थों तथा प्राणियों में, उनके स्वभाव में आये परिवर्तन को प्रत्यक्ष देखने में समर्थ होगा। मनुष्य के लिए मानसिक चेतना ही उसकी सत्ता में सर्वोपरि वस्तु नहीं रहेगी। मानव अतिमानसिक चेतना को ग्रहण करेगा। जीवन को उसकी अभिव्यक्ति का रूप प्रदान करेगा। पदार्थों के बाह्य आकार पर ही उसकी दृष्टि नहीं ठहरेगी। आकार के पीछे निराकार के दर्शन करेगा। वह अपने आपको शरीर, मन तथा अहंकार-जनित प्रकृति मात्र नहीं देखेगा। उसे आंतरिक दृष्टि प्राप्त होगी। वह आत्मा की आँखों से देखने में समर्थ होगा। आत्म-सत्य में निवास उसके लिए स्वाभाविक वस्तु होगी। मानवता की सेवा, उसका चेतना-स्तर ऊँचा उठाना, उसकी दृष्टि में उतना ही महत्वपूर्ण होगा जितना अपनी आत्मा का विकास उसकी मुक्ति। धर्म तथा जातीय संबंधी कर्मों को उतना ही मूल्य प्रदान करेगा जितना सामाजिक व्यवहार के लिए, पारस्परिक संबंधों को बनाये रखने के लिए, उनमें उत्थान लाने के लिए अनिवार्य होगा। आध्यात्मिकता सबके ऊपर छायी रहेगी। आध्यात्मिक चेतना, आध्यात्मिक भाव मानव चिंतन में सर्वोपरि स्थान ग्रहण करेगा। मानव-जीवन के सब कर्म, सब व्यापार, सब क्षेत्र आध्यात्मिक चेतना की विशालता से प्रेरित होंगे। आत्म-एकत्व से ओत-प्रोत रहेंगे। जिसका व्यावहारिक रूप होगा – मानव, मानव को आत्मीय

देखेगा, उसे भ्रातृवत् प्रेम करेगा। उसके सुख में सुख अनुभव करेगा।

नदी का किनारा, उसका सतत प्रवाह हमें सुहाता है। झरने की शीतलता हमारे मन को मोह लेती है। गिरि-पर्वतों का शांत-शुद्ध-सुखद वातावरण हमें सृष्टिकर्ता की याद दिलाता है। सप्त सागरों की अपार जल-राशि हमें आत्मा की असीमता में उठा देती है। सीमाहीन अनंत नील-नभ की नीलिमा हमें अनंत सत्ता का स्मरण कराती है। सूर्य की प्रचण्डता, चन्द्र की उज्ज्वलता, सितारों की सजावट, ग्रहों की जगमगाहट हमें अदृश्य शक्ति के सम्मुख झुका देती है। प्रकृति की शोभा में हमें स्वर्ग के सौंदर्य की आभा, उसकी झलक मिलती है। हमारे अंदर कोई नृत्य कर उठता है। जिसकी छाया की छटा इतनी सजीव, इतनी आकर्षक है, उस महिमामय स्वयंभू सत्ता का स्वरूप कितना आनंददायक होगा !

चरम समाधान

एक ओर हम देख रहे हैं कि मनुष्य के अंदर सामूहिक रूप में आत्मा के प्रति, सत्य के प्रति, स्वधर्म के प्रति सचेतन होने की अभीप्सा जाग रही है। दूसरी ओर उसका धार्मिक एवं सांप्रदायिक अहंकार इसमें बाधक बनकर उपस्थित है। वह आध्यात्मिकता को नहीं धार्मिकता को विश्व-मंच पर लाना चाहता है। आत्मा को नहीं, अपने धर्म को – जो धर्म स्वयं उसके द्वारा ही निर्मित किया गया है – समर्पित होकर जीवन यापन करना चाहता है। आत्मा और अहंकार के मध्य मानव प्राणी संघर्षरत है, किंकर्तव्यविमूढ़ है। यह अतिमानसिक चेतना के दबाव का परिणाम है। जिसका अवतरण संसार में संभव हुआ है। अब थोड़े ही प्रयास से मनुष्य अज्ञान की शक्तियों के प्रभाव से बाहर आ सकता है। अहंकार के शासन से मुक्त होकर आत्मा से प्रेरित जीवन-मार्गों पर अग्रसर हो सकता है। अपने जीवन को आत्म-सत्य की सीधी अभिव्यक्ति का रूप प्रदान कर सकता है। अब मनुष्य के लिए अमिश्रित सत्य का पुजारी होना संभव है। अगर हम चाहें आशिंक सत्य की, आध्यात्मिक मानस स्तरों की ज्योति से जगमगाते स्तरों पर स्थित न होकर सीधे अतिमानस-सूर्य के प्रकाश में स्थित हो सकते हैं। अपनी व्यक्ति-चेतना को उससे प्रकाशित कर सकते हैं। परस्पर विरोधाभास उत्पन्न करेवाले विविध मार्गों

के ऊपर स्थित, दिव्य सामंजस्य से परिपूर्ण चेतना की अभिव्यक्ति संसार में संभव बना सकते हैं। फलस्वरूप उस सत्य-सूर्य को देख सकते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति हमारे वेद हैं और सभी अवैदिक दर्शन जिसकी एक किरण से प्रकाशित हैं। अब तक हमें, शायद, उन सभी मार्गों की, धर्म-पंथों की आवश्यकता थी। किन्तु आज नहीं है। अब हम अपनी चेतना में जागृति अनुभव कर रहे हैं। विचारों में, भावों में विशालता देख रहे हैं। मानव-कृत धर्मों की, धार्मिकता की दीवारों के अंदर बंद रहने में हम घुटन अनुभव करते हैं। अब हम अपने अंदर अपनी आत्मा में एक नये प्रकार की अभीप्सा उठती हुई देख रहे हैं जो सत्य को समग्र रूप में आलिंगन करना चाहती है। सूर्य के साथ संबंध स्थापित हो जाने से जैसे किरण के सीमित प्रकाश में संसार का विस्तृत जीवन यापन करने में कठिनाई अनुभव होती है, हम धर्म के धुंधले प्रकाश में आत्मा की विशालता से प्रेरित जीवन यापन करना असंभव पाते हैं। अब हमें राज-मार्ग पर भ्रमण करने का, सूर्यालोकित पथ पर चलने का अभ्यास हो गया है। हम संकीर्ण गलियों की अस्वच्छ, दूषित वायु का सेवन करना पसंद नहीं करेंगे।

अगर हमारे हृदय आत्मा के आलोक से आलोकित हैं, अगर हम मनसातीत स्तरों पर उठकर सत्य-सूर्य की भास्वरता में श्वास लेने के अभ्यासी हैं तो हमें चाहिये मानव-जाति के सम्मुख पूर्णता का पथ प्रशस्त करें। उसके

लिए वस्तुओं को देखने की समग्र दृष्टि प्राप्त करना संभव बनायें। मनुष्य के अंदर जो सर्वज्ञ चेतन सत्ता स्थित है, उसके संपर्क में आने का, उसे विचारों तथा कर्मों में अभिव्यक्त करने का उपाय, उसकी प्रक्रिया सिखायें।

अगर मनुष्य अंधकारपूर्ण धूमिल मार्गों पर भटक रहे हैं तो उन्हें प्रकाश-पथ दर्शायें। मार्ग के चुनाव करने में उनकी सहायता करें। उनकी चेतना में, उनके स्वभाव में परिवर्तन लाने का प्रयास करें। जहाँ वे चल रहे हैं उस मार्ग पर चलने से रोकना, उसके द्वारा भटकाव से उत्पन्न होनेवाले दोषों को गिनाना, अपने आपमें समाधान का एक पक्ष है। हमें पूर्ण समाधान प्रदान करना होगा। प्राप्त वस्तु से उच्चतर वस्तु समाज को प्रदान करनी होगी। अपना आदर्श समाज के सम्मुख उपस्थित करना होगा। आत्मोप्लब्धि, परमेश्वर को पूर्ण समर्पण, जीवन तथा कर्मों में उसके संकल्प की चरितार्थता का आदर्श, मनुष्य की समस्या का, वह जातीय हो या धार्मिक, आर्थिक हो या राजनैतिक समाधान प्रदान करने में सर्वाधिक समर्थ हो सकता है।

हमें आत्मा को पाना होगा। उसमें निवास संभव बनाना होगा। उसके संकल्प की चरितार्थता को जीवन का स्वरूप प्रदान करना होगा। आत्म-सत्य में उठना, आत्म-चेतना से, आत्म-दृष्टि से जगत को देखना, आत्मा की विशालता में सभी बाधाओं का हल खोजना सीखना होगा। उससे निम्न स्तर पर उपलब्ध कोई भी समाधान मनुष्य की वर्तमान

समस्याओं का स्थायी समाधान प्रदान करने में समर्थ नहीं। आत्मिक विकास, आत्म-एकत्व में उत्थान, आत्म-सत्य की अभिव्यक्ति ही मानव-जाति का लक्ष्य होना चाहिये। यही उसकी भावी नियति है।

हम देख रहे हैं कुछ धर्म अपनी मूल शिक्षा से दूर होते जा रहे हैं। इसमें उनके धर्माध्यक्षों का अहंकार, उनकी महत्वाकांक्षाएँ, विचारों में संकीर्णता, हृदय में विशालता का अभाव कारण हैं। जिस दिन ये आत्म-चेतना में जागेंगे इनका हृदय आवरणहीन होगा, जिस दिन आत्मा की विशालता में उठेंगे, ये वर्तमान अंधकारपूर्ण, संकीर्ण धार्मिकता के भवन से बाहर आ जायेंगे और मानव मात्र को – चाहे उसकी आस्था किसी भी धर्म में हो – गले लगायेंगे।

भार स्वयं उठायें

हममें से कुछ हैं जो अपना भार दूसरों से उठवाना चाहते हैं। ये सरल हृदय हो सकते हैं, लेकिन बुद्धिहीन हैं। ये मंदिरों में, गिरजाघरों में जाते हैं, धर्म स्थानों में, तीर्थ स्थानों में मालाएं चढ़ाते हैं, अनुष्ठान करवाते हैं। साधु-संतों के चरणों में बैठते, उन्हें श्रद्धा-भक्ति से नमन करते हैं। इन्हें आर्शीवाद चाहिए। इस आर्शीवाद के पीछे कुछ का भाव रहता है कि जीवन में सब ठीक-ठीक, सुचारु रूप से चलता रहे, कहीं कोई विघ्न-बाधा न आये। दूसरे इस आर्शीवाद से आत्म-मंगल की, अथवा शांति की कामना करते हैं। जो बाह्य जीवन में सुख चाहते हैं, अथवा कामनाओं की सिद्धि के लिए किसी देवी-देवता की, साधु-संत, फकीर की शरण खोजते हैं, उनकी चर्चा करना हमारा ध्येय नहीं है। संयोग वश कुछ स्थानों पर मैंने काफी व्यक्तियों को साधु-संतों के, महात्माओं के, जैसा कि उन्हें सम्मान पूर्वक पुकारा जाता है, चरणों में मस्तक रगड़ते देखा? उनका हाथ लेकर अपने सिर पर दबाते देखा। क्षण भर के लिए मैं एकाग्र हुआ। दोनों के अंतर्भावों की स्थित का अवलोकन किया। मैंने अपने हाथ उठाये, प्रभु को पुकार। "हे जगत के स्वामी, हे दीनबंधु ! इन आत्माओं का उद्धार कर ! इन्हें आत्म-कल्याण का पथ दिखा। ये भटक रहे हैं।" सरल हृदय भक्त-गणों का दोष यही था कि उन्होंने अपनी

अज्ञानता-अबोधता के कारण भूल चुनाव किया। इसके लिए शास्त्रों की शरण ग्रहण नहीं की। गुरु के चुनाव का भार अंतस्थ देव के हाथों में नहीं सौंपा, जो वास्तव में हमारे अंदर हमारा जीवन स्वामी है। दूसरी ओर, गुरु महाराज जी आध्यात्मिक स्तर पर पूरे अचेतन थे अर्थात् दृष्टिहीन थे। लेकिन उनके नाम के पहले भगवान शब्द अवश्य जोड़ा जाएगा। अन्यथा मठ में प्रवेश नहीं पा सकेंगे। वे अपनी छोटी-छोटी सिद्धियों के जाल से, चमत्कारों के आकर्षण से, जनता को अपनी ओर खींच रहे थे, खींचने में निपुण थे। लेकिन उस व्यक्ति के पास, उसके व्यक्तित्व में कुछ था, एक श्यामल-सी सत्ता उसके वातावरण में विद्यमान थी, जो उसका आदेश-पालन करती थी – यह सब प्राणिक स्तर था, जो समूह को आकर्षित कर रहा था। प्राणमय लोक के प्रकंपनों से ओत-प्रोत था। सूक्ष्म प्राणिक लोक की सत्ताओं में यह सामर्थ्य विद्यमान है, वे समूह के आकर्षण का केन्द्र बन सकती हैं।

मेरा मन पुनः भीतर डूब गया। पूर्ण अंतर्मुखता में मेरे अंदर से यह पुकार उठी। "हे मानव आत्मा जाग ! सचेतन बन ! अपनी जीवन-धारा को, अपनी भावना को, हृदयेश्वर की ओर मोड़। मंदिरों के देवता तेरे जीवन पर सुख बरसा सकते हैं अगर श्रद्धापूर्वक तू उनकी आराधना करे। लेकिन स्मरण रख ! वे तेरे कर्मों के फल को नहीं मिटा सकते। तेरे पाप कर्म तुझे ही भरने होंगे। उनके फल के भोग में ये मंदिर और गिरजाघर तेरी सहायता नहीं कर सकते। साधु-संत या

कोई और तेरी मंजिल तय नहीं करेगा। सुन ! आत्मा पुरुषार्थ से पाया जाता है। पुरुषार्थी की सहायता होती है। पुरुषार्थी ही प्रभु कृपा के पात्र बनते हैं, वे ही अधिकारी होते हैं। जो त्याग-तपस्या और बलिदान से भरे जीवन में प्रवेश करने से घबराते हैं, कभी अपना आत्म-कल्याण नहीं कर सकते। "अयमात्मा बलहीनेन न लभ्य।" इस हृदय स्थित आत्मा को केवल वही पाता है जो मानों इसके लिए ही जन्मा हो। जिसका जीवन-मरण इसी के लिए हो। अर्थात् हर श्वास, हर कर्म, हर गति, हर चेष्टा इसी के लिए हो। अगर तू पथ पर बढ़ेगा, तेरी सहायता अवश्य होगी, लेकिन चलना तुझे ही होगा। संकल्प ले ! प्रभु को पुकार ! प्रभु सहायता करते हैं, पुकार का उत्तर मिलता है, तुझे भी अवश्य मिलेगा। लेकिन वे तेरे लिए अभीप्सा नहीं करेंगे, तेरे लिए प्रार्थना नहीं करेंगे। तेरी सच्चाई का भार वे नहीं लेंगे। तेरा कर्तव्य तुझे पालन करना है, अपना वे करेंगे। स्मरण रख ! यह अनंत सृष्टि ऐसे ही गति नहीं कर रही है। इसके पीछे एक दिव्य संकल्प है और उसके बनाये कुछ नियम हैं। सृष्टि-चक्र में एक विधान है, एक नियम क्रियाशील है। उसे मानकर चलने में ही जीव का श्रेय, उसका आत्म-मंगल निहित है– सुख-भोग का नहीं, सृष्टि में अवतरित आत्मा को चाहिये कि वह अपने जीवन को आत्म-अनुसंधान का रूप प्रदान करे।

धार्मिक

धर्म धार्मिकता नहीं है, शिक्षा नहीं है। वस्तुओं का अंतर्निहित सत्य है। धार्मिकता मनुष्य को उसके स्वभाव में पशुता मिश्रित वृत्तियों से ऊपर उठाती है, स्वार्थ-भावना से, लोभ-मोह से जो कि उसके क्षुद्र व्यक्तित्व की स्वाभाविक वस्तुएँ हैं और उसे व्यक्ति-चेतना की परिधि के अंदर बंद रखती हैं, उनसे बाहर निकालती है।

हे धार्मिक ! तू इस धर्म-रूपी स्कूल से बाहर आने का प्रयास कर। जीवन-भर स्कूल में रहना शोभा नहीं देता। चलते जाना कोई आदर्श स्थिति नहीं है। गन्तव्य पर पहुँचना आदर्श है। शिक्षा प्राप्त करते रहना आदर्श नहीं है। शिक्षित होना, शिक्षा को व्यवहार में लाना आदर्श है। धर्म एक मार्ग है, शिक्षित करने का एक उपाय है जो गन्तव्य की ओर इंगित मात्र करता है, गन्तव्य नहीं है। धार्मिकता एक शिक्षा है जो हमें उस वस्तु का भान कराती है जो व्यक्ति तथा जगत की सत्ता का सत्य है। अपने आपमें सद्वस्तु नहीं है। हमारे अंदर हमारी आत्मा धर्म-रूपी मार्गों में चक्कर काटते रहना पसंद नहीं करती। वह गन्तव्य पर पहुँचना, सद्वस्तु को प्राप्त करना चाहती है। आत्मा जब तक जाग्रत नहीं है, दूसरों के बताये मार्ग पर चलती है। अनंत सत्ता के साथ संबंध स्थापित होते ही वह उसके संकल्प की चरितार्थता को जीवन तथा कर्मों का स्वरूप

प्रदान करती है। धर्मों के प्रचलित रूप भी मार्ग ही हैं। जिनके अंदर आत्मा जाग्रत है उन्हें किसी से शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। वे धर्म-रूपी स्कूलों में नहीं भटकते। उन्हें इस बात का बोध है कि एक सर्वज्ञ चेतना का निवास उनके अंदर है। एक ज्ञान-रूपी सूर्य, एक ऐसा प्रकाश जिससे कुछ भी नहीं छिपा है, जो सब रहस्यों का ज्ञाता है, उनकी अपनी सत्ता का सत्य, उसका आधार है। जो अभी आवरणयुक्त है। उनका हर प्रयास इस आवरण को हटाने की ओर होता है। वे इसे हटाते हैं और इसके प्रकाश में जीवन-यापन करते हैं। इस प्रकाश की चर्चा, इसकी ओर इंगित उन्हें संतुष्ट नहीं कर सकता। वे इसकी प्राप्ति चाहते हैं। प्राप्ति से रंच मात्र न्यून कोई वस्तु उन्हें संतुष्टि प्रदान करने में समर्थ नहीं है। ये सत्य क सच्चे अन्वेषक हैं। उसे प्राप्त करते हैं।

पूर्ण सचेतनता अर्थात् आत्म-सचेतनता ही पथ है। वही मानव-जीवन की समस्या का समाधान है। वही लक्ष्य है। सचेतन होकर ही हम अज्ञानमयी, अहमात्मक चेतना से ऊपर उठकर आत्म-ज्ञान में प्रतिष्ठित हो सकते हैं।

धर्म

मानव आत्मा तथा परमात्मा के पश्चात् अगर सृष्टि में कोई सद्वस्तु है तो वह धर्म है। धर्म से हमारा तात्पर्य पदार्थ की मूल सत्ता के स्वभाव से है जिसे ऋतम् कहा है। धर्म का व्यावहारिक रूप भागवत संकल्प की अभिव्यक्ति, उसकी चरितार्थता होता है। इस आधार पर हम कहेंगे कि प्राचीनतम श्रुति-शास्त्रोक्त सनातन धर्म ही मानव-धर्म है। धर्म कर्तव्य मात्र नहीं, जीवन जीने के कुछ नियम, परिपाटियाँ, क्रियाएँ, पद्धतियाँ, रीति-रिवाज नहीं है। जिसे आज धर्म कहा जाता है, जो कि संसार में अनेक हैं, अनेक प्रकार के हैं, धर्म का सही स्वरूप नहीं है। ये सब मानव-रचनाएँ हैं। इनका आधार प्रायः एक व्यक्ति-विशेष की अपनी दृष्टि होती है जो कि उसकी चेतना के विकास पर, परिस्थिति पर, देश तथा काल पर, युग पर निर्भर होती है। और वस्तुओं को, उनके सत्य को अपने ढंग से देखती है। उसकी अनुभूतियाँ जीवन के प्रति उसकी प्रतिक्रियायें इसी सापेक्ष दृष्टि पर निर्भर करती हैं। जो बाह्य स्तर तक ही सीमित हैं। ये चीजें आत्मा को स्पर्श नहीं करती, ये वे नहीं हैं जिनकी मांग वह करती है, जो उसकी अभिव्यक्तियाँ होनी चाहियें। इनमें से कुछ हमारे अहंकार की प्रतिक्रियाओं पर आधारित होती हैं। जिन्हें मानव की वर्तमान शुद्ध मानसिकता स्वीकार करने में अड़चन अनुभव कर रही है।

उच्च शिक्षित वर्ग इन्हें, इनके भूतकाल में किये घृणित कर्मों को लख कर, तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखते हैं। इनके विषय में कुछ भी कहना समय नष्ट करना है। ऐसे प्रवर्त्तक कूप-मंडूक होते हैं और हमें इन्हें कुछ भी नहीं कहना है। केवल अपनी प्रार्थनाओं में हम इन्हें अवश्य ले लेते हैं। इसी से हमें आशा है कि एक दिन इनका उद्धार होगा। ये इस वर्तमान धार्मिक कही जाने वाली चेतना की परिधि से बाहर आयेंगे और आत्मा की स्वतंत्रता में, उसके ज्ञान में, उसके प्रकाश में अवश्य हमारे साथ खड़े होंगे।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि मन के अवतरण के पश्चात् अब अतिमानस का अवतरण पृथ्वी पर संभव हुआ है। जिसके फलस्वरूप मनुष्य जाति में से अतिमानव जाति विकसित होगी, जैसे मन के अवतरण के फलस्वरूप पशु जाति में से मनुष्य जाति विकसित हुई थी। उनके अनुसार अतिमानव जाति भी सृष्टि-विकास- क्रम में अंतिम नहीं होगी। विकास-क्रम सदा आगे बढ़ता है। हम निश्चयता के साथ कह सकते हैं कि अतिमानव जाति में से भी एक उच्चतर, श्रेष्ठतर, अधिक दिव्य जाति का विकसित होना अवश्यंभावी प्रकरण है। उसे संसार किस नाम से संबोधित करेगा, यह कहने की स्थिति में हम अपने आपको आज नहीं पा रहे हैं।

मनुष्य के अंदर अहंकार है। उसे प्रतिष्ठा पसंद है। सम्मान पाने में प्रसन्नता अनुभव करता है। अहंकार का स्वभाव है दूसरों पर शासन करना, दूसरों को अपने पीछे चलाना, केवल अपने लिए जीना, अपने सुख की चिन्ता करना। मनुष्य के मनोमय पुरुष में अनुसंधान की प्रवृत्ति है, ज्ञान-अर्जन की अभीप्सा है, वह वस्तुओं का सत्य जानना चाहता है। उसके प्राणमय पुरुष में कामनाएँ हैं, महत्वाकांक्षाएँ हैं, ईर्षा, द्वेष, घृणा, प्रेम के भाव हैं। वह स्वार्थी है और सब कुछ अपने लिए चाहता है। उसकी इंद्रियों का स्वभाव पशुता की वृत्तियों से भरा है। उनकी गति निम्नगामी है। सुख-भोगों में ग्रस्त रहने में ही उन्हें रस मिलता है। किन्तु मनुष्य इतना मात्र ही नहीं है। यह उसकी सत्ता का सतही विवरण है। उसकी सत्ता में आन्तरिक भाग भी हैं और वे अपने स्वभाव में पर्याप्त श्रेष्ठ हैं। जो अपने सम्मुख उच्च आदर्श रखने में, उनकी पूर्ति-हित अपना सर्वस्व बलिदान करने में आंतरिक संतुष्टि अनुभव करते हैं। इन सब के परे, इनके पीछे उसकी सत्ता में एक दिव्य पुरुष का निवास है जो व्यक्ति में सच्चा व्यक्तित्व है, उसका जीवन-स्वामी है। भव-सागर में शाश्वत यात्री है। आवागमन के चक्र में घूमनेवाला, जन्म-मरण के बंधन में जकड़ा जीवात्मा है, जो अपने विषय में, अपने जीवन-लक्ष्य के

विषय में सचेतन है। वही हमें हर जन्म में अनुभवों के द्वारा पाठ पढ़ाता और आत्म-उन्नति के मार्ग पर शिक्षित करता हुआ मुक्ति की ओर, आत्म-परिपूर्णता की ओर ले जा रहा है। शास्त्र कहते हैं हर व्यक्ति अपने मूल स्वरूप में परमात्मा है। उसका मूल परमात्मा में है, सृष्टि में जीवात्मा उनका अंश कहा गया है, जिसका स्थान सिर के ऊपर बताया गया है। मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय इन तीन पुरुषों से निर्मित हमारी बाह्य सत्ता है। ये तीनों पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप में हमारी सत्ता के आंतरिक स्तर पर भी निवास करते हैं। इनके पीछे चैत्य पुरुष, हमारा अन्तरात्मा निवास करता है जो कि जीवात्मा का प्रतिनिधि है। उसके तेज की अभिव्यक्ति है। यही प्रकृति में उतरता है। मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय पुरुष इसे यंत्र-रूप में प्राप्त होते हैं। इनके द्वारा ही यह अपना विकास साधित करता है और एक दिन अनन्त सत्ता से तादात्म्य लाभ कर आत्मा की अनन्तता में, जो कि आनन्दमय है, अमृतमय है, अनन्त काल तक निवास करता है। इसे ही मुक्ति कहा जाता है। अपनी मुक्तावस्था में यह स्वतंत्र है – जब चाहे संसार में जन्म ग्रहण कर सकता है। यह उसके चुनाव पर निर्भर करता है। इस प्रकार का जन्म मुक्त-पुरुष का जन्म होता है। जो पृथ्वी पर जीवन-मुक्त रहते हुए अपना लक्ष्य सिद्ध करता है।

अब संसार में एक नयी संभावना उत्पन्न हुई है। श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजी ने संयुक्त तपस्या करके

अतिमानस शक्ति को पृथ्वी पर उतारा है, जिसके द्वारा अगर हम चाहें अपने यंत्रों को, आत्मा की दिव्यता में रूपान्तरित कर सकते हैं। और फलस्वरूप जरा, मरण, व्याधि से मुक्त हो सकते हैं।

रूपान्तरित व्यक्ति को श्रीअरविन्द ने अतिमानव कहा है। अतिमानव मनुष्य से उतना ही श्रेष्ठ होगा, जितना मनुष्य पशु से है। अतिमानव का आगमन सृष्टि-विकास-क्रम में एक नया स्तर होगा। जैसे वनस्पति के पश्चात् पशु-पक्षी आये और उनके पश्चात् मनुष्य आया। उसी प्रकार अब मनुष्य के उपरान्त अतिमानव का आगमन संसार में एक अवश्यंभावी प्रकरण है।

एक बात कई प्रकार से कही जा सकती है। हम इस प्रकार कहेंगे – विद्वता का फल ईश्वर प्राप्ति है। बुद्धिमत्ता का उपयोग है शरीर से अपने आपको पृथक् देखना। मानव-जीवन का उद्देश्य आत्मा में जागना और दूसरों को जगाना है। स्वयं श्रेष्ठ कर्म करने और दूसरों को उसी ओर प्रेरित करना। जो प्रदीप बुझे हैं उन्हें जलाना, जिन्हें आवश्यकता है उन्हें सहायता करना, जो भटक रहे हैं उनका हाथ पकड़ना, उन्हें दिशा दिखाना।

एक समाधान

धर्मों को तथा जातियों को लेकर इतने भीषण द्वेष-भाव का उमड़ना, जो मनुष्यत्व की सीमाएँ लांघ रहा है – शत्रुता तथा हिंसात्मक भावों से पृथ्वी के वातावरण को इतना विषाक्त बना देना कि किसी सात्विक वस्तु के लिए स्थान ही न रहे, ऊँची बुद्धिमत्ता नहीं है। जो ऐसा मान रहे हैं वे भ्रांत-चित्त हैं और आज के बुद्धिमान वर्ग को, चाहे वे किसी भी देश, धर्म अथवा जाति के हों, उनके प्रति सावधान हो जाना चाहिये। हमें इस जाति की रक्षा करनी है, इसका जीवन-स्तर ज्योतिर्मय बनाना है, इसके भाव में आत्मा की विशालता प्रतिष्ठित करनी है।

वर्तमान सामाजिक समस्या का, धार्मिक तथा जातीय तनाव का कारण सामान्य जन में नहीं है। उन व्यक्तियों के भीतर है जो समाज का पथ-प्रदर्शन करते हैं। उसे दिशा दिखाते हैं। सामाजिक निर्माण-कार्य जिनके हाथों में है। उनकी चेतना आत्म-प्रकाश से प्रकाशित नहीं है। उन्होंने स्वयं वैदिक शिक्षा को, उसमें वर्णित आध्यात्मिक ज्ञान को अपने आचरण का विषय नहीं बनाया है। इनके हृदय से स्वार्थ तथा पक्षपात् का भाव नहीं गया। इनके विचारों में संकीर्णता है। उसका स्थान आत्म-ज्ञान की विशालता ने ग्रहण नहीं किया है। ये परम आत्म-एकत्व की चेतना से दूर हैं। संपूर्ण विश्व को एक परिवार देखने में, मानव मात्र को अपना स्वजन, अपना आत्मीय समझने में समर्थ नहीं हैं। ये समाज को पुरानी लकीरों पर ही ठेलना चाहते हैं। स्वयं

किसी एक संप्रदाय के अनुयायी रहते हैं और दूसरों को भ्रातृत्व की, जातीय ऐक्य की शिक्षा देते हैं। अपने पद को सुरक्षित रखते हुए, दूसरों को समान भाव से संघ की, समाज की, संप्रदाय की निस्स्वार्थ सेवा करने का पाठ पढ़ाते हैं। अगर, आज जो ये हैं – अपनी व्यक्ति-चेतना में बंद, स्वभावगत दुर्बलताओं से युक्त, आत्म-दृष्टि से हीन, आत्मा की विशालता से दूर – वही रहते हुए किसी उच्चतर समाज की, जाग्रत मानवता की, जिसकी मानसिक तथा बौद्धिक चेतना ज्योतिर्मयी हो, रचना करना चाहते हैं, तो यह एक आकाश-कुसुम से अधिक कुछ न होगा। अगर हम वास्तव में इस जाति की चेतना में उत्थान लाना चाहते हैं, इसे आत्मा की मुक्त चेतना-स्तर पर उठाना चाहते हैं तो प्रथम हमें अपना चेतना-स्तर ऊँचा उठाना होगा, आत्मा की दिव्यता से भरपूर करना होगा। उसमें सभी संकीर्णताओं के ऊपर आत्मा की विशालता का प्रवाह संभव बनाना होगा। स्वयं प्रबुद्ध होना होगा, आत्मा में जागना होगा, सृष्टि के हर पदार्थ में भागवत उपस्थिति अनुभव करनी होगी। मानव मात्र में, चाहे वह किसी देश, धर्म अथवा जाति से संबंधित हो, प्रभु-दर्शन करना होगा। अहंमय सीमित व्यक्ति-चेतना के स्थान पर अंतस्थ आत्मा से प्रेरित-चालित होना होगा। उसे समर्पित होकर जीवन-यापन करना अपना स्वभाव बनाना होगा। समर्पित जीवन ही जीवन है, इस भाव को जीवन की हर क्रिया में, हर चुनाव में, हर मोड़ पर, प्रथम

स्थान प्रदान करना होगा। जो स्वरूप हम समाज को प्रदान करना चाहते हैं, जो सामंजस्य उसमें लाना चाहते हैं, हमारे जीवन का स्वरूप होना चाहिये। तभी हम मानवता से एक महान परिवर्तन की मांग कर सकते हैं। आत्मा की विशालता में उठने पर बल दे सकते हैं। अपना आदर्श प्रस्तुत करना सही शिक्षा है। अपने व्यक्तित्व के बलिदान का भाव आगे रखकर चलना सफलता की कुंजी है।

जैसे ही हम बाह्य व्यक्तित्व से पीछे हटकर अन्तरात्मा के समीप पहुँचते हैं हमें सच्चे सुख की अनुभूति होती है। जितना हम स्वार्थ को भूल कर प्रभु-चिन्तन में डूबते हैं, आनंद का सिंधु समीप आता अनुभव होता है। जब दूसरों को सुखी करने की, उनके आत्म-विकास में सहायक बनने की चेष्टा करते हैं, हमारी व्यक्ति-चेतना विशाल होती है। यह विशालता मुक्ति-मार्ग में अनिवार्य स्थिति है। हमें चाहिये कि हम किसी को शत्रु न समझें जब तक अनिवार्य न हो, किसी के साथ शत्रुता का व्यवहार न करें। इसी प्रकार हमें स्वजनों में आसक्ति तथा मोह से भी ऊपर उठना है। आत्मा की मुक्त चेतना में निवास करने की अभीप्सा जिनके हृदय में है, उन्हें मनोभाव में परिवर्तन लाना ही होता है।

सामाजिक व्यवस्था

समाज की जो अवस्था हम देख रहे हैं वह सुन्दर नहीं है। उसमें कुछ भी आकर्षक, उच्च आदर्शों से परिपूर्ण, आत्मा के सत्य से, उसकी दिव्यता से ओत-प्रोत नहीं है। इसमें न शांति है न सुख, न सामंजस्य। न प्रेम, न भ्रातृत्व की भावना। सांप्रदायिक, जातीय तथा धार्मिक संकीर्ण परिधियों में मानव हृदय, मन, बुद्धि तथा चेतना बंद हैं। आत्मा की विशाल चेतना में स्थित होना, जगत सत्ता के मूलभूत एकत्व में उठना, जीवन को उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रदान करना उसके चिन्तन का विषय नहीं है। आज मानव-विचार के अंतर्गत नहीं है।

सभी व्यक्तिगत रूप से सुखी होना, प्रतिष्ठा पाना चाहते हैं। संपूर्ण जाति के सुख की चिंता किसी को नहीं। प्रतीत होता है हम स्वार्थ में पूर्णतः डूब गये हैं। महापुरुष के शब्दों को बिलकुल भूल गये हैं, जहाँ वह अपने हृदय की वेदना को इस प्रकार व्यक्त करता है — 'मानवता के कष्टपूर्ण जीवन की, उसकी अज्ञानता की चिन्ता अगर मेरी निद्रा को जागरण में नहीं बदल देती तो मेरे समान स्वार्थी आज तक संसार में नहीं जन्मा है।'

हम सभी का ध्यान इस ओर जाना चाहिये कि आज मानवता के पग एकता की ओर न बढ़कर विभाजन की ओर बढ़ रहे हैं, पारस्परिक प्रेम-भाव का स्थान हिंसात्मक

संस्कार ले रहे हैं। हमें संसार को सर्वनाश की इस संभावना से, विभीषिका से उबारना चाहिये। हर धर्माध्यक्ष दूसरे धर्मों को नष्ट करके अपने-अपने धर्म को पृथ्वी पर फैलाना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में उसे कितने भी बीभत्स कर्म करने पड़ें, धार्मिक शिक्षा से कितना भी दूर जाना पड़े, आत्मा की इच्छा के कितना भी विपरीत आचरण करना पड़े, इसकी उसे चिंता नहीं। हम धर्म के नाम पर, धर्म के विस्तार के लिए उन सभी कर्मों को करने के लिए उद्यत हैं जो उस जाति-विशेष के अपने ही धर्म शास्त्र में त्याज्य हैं, निंदित कर्म हैं। हम धर्म को अपनी आत्मा तथा परमात्मा से भी अधिक महत्व प्रदान करने लगे हैं और उसके आवेश से अभिभूत रहते हैं। हम नहीं समझते कि धर्म एक सोपान है। मार्ग है, गन्तव्य नहीं। धर्म रीति-रिवाजों को नहीं कहते। कर्मकाण्ड धर्मरूपी तत्व का बाह्य विग्रह होता है, उसकी आत्मा नहीं। धर्म पदार्थ में स्थित उसकी आत्मा का मूल स्वभाव होता है। आज हम अपनी जाति को, अपने धर्म को संसार में सर्वोच्च मान प्रदान कराने के लिए, उन सभी घृणित कर्मों को करने के लिए तत्पर हैं जिन्हें कभी किसी युग में भी, कितनी भयंकर कलहपूर्ण स्थिति उत्पन्न होने पर भी नहीं किया गया, वरन्, पैशाचिक संज्ञा प्रदान की गई। आज भी, इस वैज्ञानिक युग में, जब कि मानव अपने बौद्धिक विकास में पूर्ण उच्चता लाभ कर चुका है कुछ ऐसे धर्म हैं, कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो विभाजन की ओर बढ़ रही

हैं। दूसरी जातियों को नीच, पतित देख रही हैं। जिनकी मान्यता है कि हमारी जाति, हमारा धर्म ही एक मात्र श्रेष्ठ है। हमारा पैगम्बर ही ईश्वर का सही दूत है। हमारी धर्म पुस्तक ही संसार को सही गति प्रदान करने में, सर्वोच्च स्वर्ग का द्वार खोलने में समर्थ है। दूसरे धर्म, भटकन हैं, उनके धर्म-शास्त्र व्यर्थ का प्रलाप हैं, उनके पैगम्बर विवेकहीन प्राणी।

मनुष्य के हृदय में इस प्रकार का विभाजन उत्पन्न करना, दूसरों से पृथक् देखने-समझने का भाव भर देना, उसका दृष्टिकोण धर्म तथा जातीय भावना की संकीर्णताओं पर आधारित करना, आज के समाज की देन है, सब कलहों का, रक्तपात का, पारस्परिक हिंसा-द्वेष की भावना का मूल है।

अगर मानव जाति को संसार में एक सुखी-शांतिमय प्रकाशपूर्ण जीवन यापन करना है तो समाज को भीतर ही भीतर विषाक्त करने वाले इन तत्वों के प्रति सावधान होना होगा। और अपने कल्याण के लिए, बिना इनके प्रभाव में आये, इनके भीतर से एक नया मार्ग खोजना होगा। जो मार्ग उसे आत्म-उन्नति की ओर, सुख-शांति तथा समृद्धि की ओर ले जानेवाला होगा। हमें एक-एक करके सभी धार्मिक तथा जातीय भावों की संकीर्णताओं से बाहर आना होगा। और एक ज्योतिर्मय मानसिकता में उठना होगा, दूर हृदय की गहराई में स्थित वह दिव्य चेतना उपलब्ध करनी होगी, जिसके प्रकाश में हम देखेंगे कि संपूर्ण मानव-जाति एक है।

एक पिता की संतान है। सारा संसार एक परिवार है। मानव मात्र अपना है। स्वजन है। आत्मीय है। विश्व-रूप ही मानव का सही सच्चा स्वरूप है। विश्व-चेतना में उत्थान उसका सही जीवन-स्तर है।

अगर मनुष्य सामूहिक रूप में यह भली प्रकार समझ लें कि विश्व-जीवन-तत्व एक है। ऊर्जा एक है। प्राणी मात्र की चेतना का, उसके अस्तित्व का मूल एक है। जगत का स्रष्टा एक है। आत्म-एकत्व चरम सत्य है। तात्विक रूप में, सबका आंतरिक सत्य वही है। वे अपनी वर्तमान सामाजिक समस्या का समाधान प्राप्त करने में अवश्य समर्थ होंगे।

अगर प्रत्येक धर्म ही सारी पृथ्वी पर फैलना चाहेगा, छल-कपट से, या वाक्जाल से अथवा धूर्तता से दूसरे धर्मों को नीचा सिद्ध कर अपने आपको मानवता के शिखर पर उठाना चाहेगा, टकराव अवश्य आयेगा।

अगर संसार की जातियाँ एक दूसरी पर अपने बड़प्पन को थोपना चाहेंगी, कलह निश्चित बढ़ेगी।

अगर संप्रदाय अपनी-अपनी सीमाओं में अधिक से अधिक बंद होते गये तो एक सामंजस्यपूर्ण समाज की आशा दूर रहेगी।

भ्रांति का त्याग करें

हे परमेश्वर ! हे जगस्त्रष्टा ! देखो। सारा संसार भ्रांति में डूबा है। आकार को ही पूर्ण पदार्थ, पूर्ण व्यक्ति मानने की भूल कर रहा है। आकार के पीछे निराकार का दर्शन करना उसकी पहुँच के परे है। वह वस्तुओं के आंतरिक सत्य से दूर है। उसका दृष्टिकोण समग्र नहीं।

अगर जगत हमें केवल आकारों से भरा दिखायी देता है तो यह इसलिए कि जिस दृष्टि से हम उन्हें देख रहे हैं वह भौतिक है। जब हमें आत्मिक दृष्टि प्राप्त हो जाती है तब यहाँ हर पदार्थ ज्योतिर्मय दीखता है। उसके अंदर ईश्वर का दर्शन होता है। सारा संसार एक दिव्य, भागवत उपस्थिति के अंदर डूबा प्रतीत होता है। जैसे जलचरों के समूह सिंधु के अंदर। यहाँ किसी पदार्थ अथवा प्राणी का पृथक् अस्तित्व दिखायी देने का अर्थ है भ्रांति। यह दृष्टि अज्ञान पर आधारित है।

जीवन में सबसे बड़ा धोखा है शरीर को अपना आप समझना। मन, अहंकार तथा इंद्रियों की इच्छाओं को अपनी मानना। पृथकत्व की चेतना में निवास करना। पदार्थों के अस्तित्व का कारण केवल पंचभूत को स्वीकार करना।

जो धर्म तथा जातियाँ एक ही जन्म को मानती हैं उनके लिए हम अपने अनुभव को आधार बना कर कहेंगे कि पुनर्जन्म एक ध्रुव सत्य है। मानव आत्मा तब तक पृथ्वी पर

बार-बार जन्म ग्रहण करती है जब तक वह मन, शरीर, इंद्रियों से अपने आपको पृथक् नहीं कर लेती, अन्तस्थ आत्मा के साथ उसका तादात्म्य नहीं हो जाता, एक अनंत अद्वितीय सनातन सत्ता से युक्तता, उसकी मुक्त चेतना में निवास स्थायी नहीं हो जाता। अगर हम पुनर्जन्म के तथ्य को अमान्य कर देते हैं तो सृष्टि विकास-क्रम का कोई अर्थ नहीं रह जाता। पुनर्जन्म को नहीं मानने का अर्थ है शारीरिक चेतना में निवास, जो अभी तक मानव इतिहास में, आध्यात्मिक अनुभूतियों के क्रम में कभी वस्तुओं के आंतरिक सत्य को देखने की दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकी, आत्म-ज्ञान में नहीं उठ सकी। शारीरिक चेतना ही यह दावा करती है कि पुनर्जन्म नहीं होता और वास्तव में, हम सभी जानते हैं, शरीर का पुनर्जन्म होता भी नहीं। इस रूप में, शारीरिक चेतना-स्तर पर निवास करनेवाले, शरीर को ही सच्चा व्यक्ति समझनेवाले मनुष्यों के लिए, चाहे वह एक जाति ही हो, यह कथन ठीक ही है। जड़ के साथ जिस व्यक्ति की चेतना का तादात्म्य रहेगा, और जब तक रहेगा, वह जड़ तत्व की स्वाभाविक अज्ञता से प्रभावित रहेगा ही। पार्थिव चेतना की स्थूलता के भार के नीचे, उसके हृदय में विवेक-अंकुर न फूटता है, न पनपता है।

सोऽहम् – व्यक्ति-सत्य

व्यक्ति का सच्चा स्वरूप उसके भीतर उसकी आत्मा है जो एक दिव्य पुरुष है। यही हमारी व्यक्ति-सत्ता का सत्य है। हम इस तथ्य के प्रति सचेतन नहीं हैं। कारण, इस समय हमारी चेतना मन, शरीर तथा इंद्रियों के साथ एक है। हमारा निवास अहंकार में है। शास्त्रों के अनुसार यह स्थिति, चेतना का यह स्तर अज्ञान में निवास कहलाता है। अगर हृदय-स्थित आत्मा में हमारा निवास नहीं, इसका अर्थ है कि हमारा तादात्म्य जीवन-स्वामी के साथ नहीं यंत्रों के साथ है। आंतरिक सत्य-सत्ता के साथ नहीं, बाह्य यांत्रिक सत्ता के साथ है।

अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर, अपनी सत्ता के सत्य में निवास से दूर, मानव मात्र बाह्य सत्ता को, मन, शरीर, इंद्रियों को अपना आप मान बैठा है। बाह्य व्यक्तित्व को ही अपनी संपूर्ण सत्ता समझ रहा है।

हे प्रभो ! जब तक मनुष्य इस भ्रांति से बाहर नहीं आता है, अपने सच्चे स्वरूप में नहीं जागता है, उसके प्रति सचेतन नहीं होता है, इसका उद्धार संभव नहीं। तब तक यह समाज, यह जाति ऐसे ही अज्ञान-अंधकार में भटकती रहेगी। कष्ट, कलह, हिंसा द्वेष के भाव, शत्रुता, क्रूरता, विनाश पृथ्वी के वातावरण में बने रहेंगे।

आज मैंने जब मैं दिव्य सत्ता की उपस्थिति से घिरा था, उसे संबोधित करते हुए पूछा, इस जाति का कैसे उद्धार होगा। संसार कब सुखी हो सकेगा। पृथ्वी का वातावरण कब शांति से, पारस्परिक प्रेम से, सामंजस्यपूर्ण स्पंदनों से भरपूर होगा। मानव-मात्र के प्रति समान प्रेम-भाव प्रकट करते हुए उसने उत्तर दिया -- वत्स ! अभी भी मनुष्य सत्य का मूल्य नहीं समझ रहे हैं। शांति को महत्व प्रदान नहीं कर रहे हैं। इनका आत्मा से दूर अहंकार में निवास है, बिना मूल्य चुकाये सब प्राप्त करना चाहते हैं। वे अपने व्यक्तित्व में से एक अंश भी बलिदान करने को तत्पर नहीं हैं। तुम जानते हो, यह सृष्टि का विधान है, यहाँ बिना त्याग, बिना बलिदान कोई भी दिव्य प्राप्ति संभव नहीं। सृष्टि रूप विश्व पुरुष के इस आत्म-यज्ञ में बिना आहुति फल-प्राप्ति असंभव है। जिस दिन मनुष्यों के भावों में परिवर्तन आयेगा, ये सीमित अहंमय स्वार्थपूर्ण व्यक्ति-चेतना-परिधि से बाहर आयेंगे, इनका जीवन सुखी होगा। स्वर्गलोक जिसके लिए सदा लालायित रहते हैं उस दिव्य सुख का अवतरण पृथ्वी पर संभव होगा।

सच्चे, निश्छल, निस्वार्थ हृदय में आत्मा का प्रेम, उसकी चेतना प्रवाहित होती है। उसकी चरितार्थता मानव-धर्म है, उसका प्रथम कर्तव्य है।

हमारी यथार्थता

धर्मों के प्रचलित रूपों को देख कर, जो कि दूसरे धर्मावलंबियों से घृणा करना, उन्हें किसी प्रकार भी छल से, बल से, परिस्थिति के वशीभूत कर अपने धर्म के अनुयायी बनाना ही जिनका उद्देश्य रह गया है, जो मानव मात्र के कल्याण की चिन्ता न कर केवल अपने धर्म को फैलाने की बात सोचते हैं, जो दूसरे धर्मावलंबियों से केवल इसलिए द्वेष करते हैं कि वे उनके धर्म में श्रद्धा नहीं रखते, उसके अनुयायी नहीं हैं ; हमें न चाहते हुए भी बाध्य होकर कहना पड़ रहा है कि कितना अच्छा हो अगर मनुष्य धर्मों का त्याग कर, मानवता को ही अपना धर्म स्वीकार करे। मानवता अर्थात्, सही, सच्चे रूप में मनुष्य बनना, अपना मानसिक संतुलन बनाये रखते हुए श्रेष्ठ कर्मों को करना। यहाँ हम इतना अवश्य कहेंगे कि मनुष्य की बाह्य यांत्रिक सत्ता के पीछे आत्मा ही उसका सही, सच्चा स्वरूप है जो एक दिव्य पुरुष है। यही मनुष्य का सच्चा व्यक्तित्व है, यही सही अर्थ में मानव है। हमारी आतंरिक सत्ता ही बाह्य सत्ता का आधार है। आंतरिक दिव्य पुरुष का स्वभाव ही हमारा स्वभाव होना चाहिये। यही हमारी यथार्थता है। जब तक मनुष्य हृदय-स्थित स्व सत्ता के दिव्य गुणों को अपने स्वभाव में, आचरण में नहीं उतार पायेगा तब तक उसके जीवन में स्थायी सुख-शांति का अभाव रहेगा। वह

आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होने में, एक सुखी, सामंजस्यपूर्ण, उत्तरोत्तर वर्धमान होनेवाले समाज की सृष्टि करने में सफल नहीं हो पायेगा।

सभी धर्म जिसकी एक किरण से प्रकाशित हैं, सभी धर्म जिसके कारण अपने-अपने अस्तित्व में बने हुए हैं, जिसका प्रथम स्पर्श प्राप्त करते ही मनुष्य सुख-दुख से ऊपर उठ जाता है, जिसके साथ तादात्म्य होने से जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है, अपने आपको अजर-अमर अविनाशी देखता है, जिसमें स्थित होकर महान से महान दुख में भी विचलित नहीं होता, अपने आपको प्रकृति का स्वामी अनुभव करता है, वह सृष्टि का मूल परम आत्मा ही, हे मानव ! चरम सत्य है। उसे सब चेतनाओं के मूल के रूप में भी देखा गया है। अगर उसको समग्र रूप में जानना चाहता है, उसकी समग्रता में उठना चाहता है तो अतिमानस को प्राप्त कर। अतिमानसिक चेतना में उठकर हम परमार्थ तत्व तथा उसकी अभिव्यक्ति रूप इस सृष्टि के रहस्यों को जानने में, निर्भ्रांत विचार को अधिकृत करने में, निर्भूल पगों से जीवन-मार्गों पर अग्रसर होने में समर्थ होते हैं। तभी हम परम सत्य में अपना निवास संभव बना सकते हैं। अपने जीवन तथा कर्मों को उसकी चरितार्थता का रूप प्रदान कर सकते हैं।

संप्रदाय – एक कारागार

संप्रदायों से बाहर आएँ। समाजों से चिपके न रहें। समीतियों को पीछे छोड़ें। अगर संसार को जगाना, इस जाति के चेतना-स्तर को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो प्रथम स्वयं आत्मा की दिव्य चेतना में उत्थान संभव बनाएँ। आत्मा को पाना, आत्म-चेतना में निवास करना, आत्मा की इच्छा को, उसके संकल्प को जीवन तथा कर्मों में चरितार्थ करना लक्ष्य रूप में चुनें। स्मरण रहे ! जीवन, जीवन-स्वामी का है और उन्हीं के लिए यापन करना मानव मात्र का परम धर्म है। संसार में धर्म एक ही है। कर्तव्य अनेक होते हैं। देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार उनके स्वरूप में परिवर्तन भी आता है। किन्तु पदार्थों का, प्राणियों का अंतर्निहित धर्म एक ही होता है, एक ही रहता है। उसे शास्त्रों में "ऋतम्" कहा है। जब हम आत्मा में स्थित हो जाते हैं ऋतम् हमारा स्वभाव बन जाता है। हमारी दृष्टि में जिस एक वस्तु का महत्व होता है, वह है सत्य। हम सत्य में, सत्य के लिए जीते हैं और उसी की अभिव्यक्ति को जीवन तथा कर्मों में संभव बनाते हैं। यही मानव-जीवन का सही, सच्चा स्वरूप है। आत्म-सत्य की सीधी अभिव्यक्ति जिस स्तर-विशेष पर संभव है, उससे जरा भी नीचे निवास करने से, उसमें मिश्रण होने से हम विचारों में, कर्मों में पूर्ण सत्य चरितार्थ करने की संभावना से दूर

हो जाते हैं। जीवन-मार्गों पर सफलतापूर्वक अग्रसर होने के स्थान पर अंधकार में भटकते हैं।

आज हमारे संप्रदायों का जो स्वरूप है, उसमें हमारे स्वभाव की संकीर्णताओं का, स्वार्थ-भावनाओं का, सत्य की परिकल्पना करने की हमारी अयोग्यता का मिश्रण है। हमारे अंदर कहीं पक्षपात् की गंध है। विचारों में हमारा दृष्टिकोण विशाल नहीं है। पूर्ण पक्षपातरहित नहीं है। हम अपने-अपने मतों को, शास्त्रों को, गुरुओं को, आचार्यों को इतना महत्व प्रदान करने लगे हैं कि अन्य प्रामाणिक, प्राचीनतम शास्त्रों के प्रकाश में उनकी संकीर्णता को समझने का, शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष को वर्तमान युग के परिवर्तित स्वरूप के साथ तोलने का भाव हमारे अंदर नहीं उठता। एक महापुरुष की वाणी को सत्य का समग्र स्वरूप मान बैठे हैं और उसके शब्दों के समक्ष युक्तियुक्त तर्क तथा अनुभूति को रखना, अंतस्थ ईश्वर की वाणी को सुनना, उसकी इच्छा जानना हम अनुपयुक्त, समय और पुरुषार्थ का दुरुपयोग मानते हैं। मानों उसके द्वारा वर्णित ज्ञान के परे चेतना के किसी और स्तर की संभावना ही न हो। मानों अनंत ज्ञान अपनी सर्वज्ञता के साथ पुस्तक के कुछ पृष्ठों में ही समाविष्ट है, वहीं उसकी इति है और उससे बाहर कुछ नहीं। यह मानव-मन की संकीर्णता है जो उसे धर्मों की, मतों की, पंथों की संकुचित वीथियों में भटकाती है। हम मानसिक चेतना की परिधि में ऐसे बंद

हो गये, ऐसे जकड़े गये हैं कि इससे परे भी कुछ और हो सकता है, एक ही परम सत्य की विभिन्न अवस्थाएँ या पक्ष हो सकते हैं, ये विचार ही हमारे मनों में प्रवेश नहीं पाते। हम अध्ययन तो क्या, अन्य शास्त्रों को देखना तक नहीं चाहते। कितने सीमित, कितने संकीर्ण हम हो गये हैं अपने विचारों में, भावों में, दृष्टिकोण में। यह हमारे शुद्ध प्रतीत होनेवाले अहंकार का अंधा हठ है। आत्म-साक्षात्कार के अभाव में उसके प्रति हमारा मानसिक समर्पण है। भले ही हमारा सांप्रदायिक अथवा धार्मिक अहंकार इसमें संतुष्टि अनुभव करता हो। किन्तु स्मरण रहे ! भीतर हमारी आत्मा इसमें घुटन अनुभव करती है और एक दिन अवश्य आयेगा जब वह इन सीमाओं से बाहर झांकेगी। मानव मन को सब संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर विश्व-पुरुष की मुक्त चेतना में उसकी उड़ान संभव बनायेगी।

हमें संकीर्णताओं से बाहर आना होगा। आत्मा को उपलब्ध कर उसकी विशाल चेतना में निवास संभव बनाना होगा। हर निर्णय में, चुनाव में, दिशा परिवर्तन में उसे ही प्राथमिकता प्रदान करनी होगी। तभी हम पृथ्वी के वातावरण को शास्त्रोक्त, सर्वोच्च धर्ममय आलोक से आलोकित करने में समर्थ हो सकेंगे। संपूर्ण मानव-जाति को प्रेम के, भ्रातृत्व के स्वर्णिम सूत्र में बांधने में सफल होंगे।

हमें समझना है कि उच्च बुद्धिमत्ता, सही विवेक, ज्योतिर्मय मानसिकता हमें आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् ही

प्राप्त होती है। उससे पहले हमें सही दिशा का, सही गन्तव्य का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। तब तक हम जो भी मार्ग अपनायें, हम यह दावा नहीं कर सकते, न करना चाहिये कि यही एक मात्र सही सर्वोत्तम मार्ग है। संप्रदाय भी युग की मांगों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं, उठते-गिरते रहते हैं। यह स्वाभाविक है। संशोधन करते रहना सदैव उचित होता है। हम मानते हैं परम सत्य सदा एक है, अपरिवर्तनीय है। किन्तु जैसे-जैसे मानवता की चेतना विकसित होती है, उसकी चरितार्थता एवं प्राप्ति के स्वरूप में परिवर्तन लाना, उसके अनुरूप मानवकृत दर्शनों को उन्नत करना अनिवार्य हो जाता है। इसे ही युग-धर्म की मांग कहा गया है।

प्रचलित धर्मों का, संप्रदायों का जो स्वरूप है – जिसके पीछे संकीर्णता की भावनाएँ सशस्त्र विद्यमान हैं – इससे बाहर आये बिना, आत्मा की दिव्य एवं विशाल चेतना में उन्नत हुए बिना हम संसार में स्थायी सुख-शांति नहीं ला सकते। मानव हृदय को संताप-विहीन नहीं कर सकते। अपने चारों ओर वातावरण को भय मुक्त नहीं कर सकते। जब तक हमारा निवास आत्म-ज्ञान में नहीं, जब तक हम प्रचलित धार्मिकता की जीर्ण दीवारों में बंद हैं – जो धार्मिकता मनुष्य-मनुष्य के बीच पृथकत्व का भाव भरती है, ऊँच-नीच का दृष्टिकोण उत्पन्न करती है – तब तक मानव हृदय में हिंसा-द्वेष के भाव बने रहेंगे। वैमनस्य तथा कलह का स्थान

स्नेह-सिक्त दृष्टि ग्रहण नहीं करेगी। हम "वसुधैव कुटुम्बकम्" की चरितार्थता से दूर होते जायेंगे। स्थायी सुख का सपना धरती के आँगन के लिए आकाश-कुसुम बना रहेगा।

संसार में नर पुंगव वे होते हैं जो अपनी प्रकृति को जीत कर, उस पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर आत्मा के आदेशानुसार जीवन यापन करते हैं। जिन्होंने अहंकार पर पूर्ण विजय प्राप्त की है और विजय मुकुट लाकर अंतस्थ पुरुष के चरणों में चढ़ा दिया है। इंद्रियों पर संयम और इच्छाओं का त्याग किया है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता की सीमाओं का अतिक्रमण कर, स्वार्थ, लोभ तथा मोह से ऊपर उठकर जीवन को एक यज्ञाहुति का रूप प्रदान किया, सुख-भोगों की ओर से मन को हटा कर, मानव मात्र के सुख की चिंता में, उसके आत्म-कल्याण के लिए, जीवन को आत्म-सत्य की सीधी अभिव्यक्ति बनाने के लिए अपनी भूख, नींद को भुलाया, रातें जागरण में बदली हैं।

व्यक्ति-विकास

हमारे अंदर हमारी आत्मा हमें एक विशाल चेतना में उठाना चाहती है। एक सीमाहीन अनंतता में उन्नत, आत्म-सत्य में स्थित देखना चाहती है। उसी की चरितार्थता हमारे जीवन का स्वरूप देखना चाहती है। जगत में प्रभु के यंत्र के रूप में कार्य करते हुए संपूर्ण सत्ता को समर्पित देखकर, जीवन को प्रभु-संकल्प की अभिव्यक्ति देखकर उसे संतुष्टि होती है। दूसरी कोई वस्तु, जीवन की अन्य दिशा में गति, चाहे वह हमारी दृष्टि में कितनी भी ऊँची अथवा आदर्शपूर्ण हो, उसे आंतरिक संतुष्टि प्रदान करने में समर्थ नहीं होती। हमारी आत्मा की हमसे एक ही मांग है– हम प्रभु के होकर, उनकी इच्छानुसार, उनके लिए जियें।

धर्म, जाति, संप्रदाय सब की सीमाएँ हैं। सब अपनी-अपनी सीमाओं में बंद हैं। विकास के एक स्तर-विशेष पर आकर, इनकी परिधि में बंद रहते हुए मानव-आत्मा अपने विकास को, परम आत्मा की परिपूर्णता को उपलब्ध नहीं कर पाती। वह आत्मा की असीमता में उठना चाहती है। संपूर्ण मानव जाति को, सारी वसुधा को एक परिवार के रूप में देखना, आलिंगन में बांधना चाहती है। उसमें उठकर ही वह अपनी मूल, स्वाभाविक सीमाहीन अनंत चेतना को

प्राप्त करती है। उसके अंदर आनंद सिंधु हिलोरें लेता है। वह सब में एक परमात्मा का दर्शन करती है, प्राणी मात्र को उसकी सृष्टि के रूप में निहारती है।

प्रचलित धार्मिकता तथा सांप्रदायिकता, अगर हम कट्टरता के साथ उनके नियमों का पालन करें, तो आत्मा के आदेश के अनुसार जीवन यापन करने से वंचित हो जाते हैं। जब कि मानव जीवन का शास्त्रोक्त, सर्वोच्च लक्ष्य आत्मा को समर्पित जीवन जीना, संसार में उसके आदेशानुसार कर्म करना है। धर्म एक सोपान है। धर्म के द्वारा हम अपने अस्तित्व के मूल की ओर, जो कि चराचर का चरम सत्य है, अग्रसर होते हैं।

हमारी आत्मा हमारे मन-बुद्धि के द्वारा निर्मित समाज की सीमाओं को जानती है और उसका प्रयास यही रहता है कि हम सभी सीमाओं से बाहर आयें। कारण, चेतना और भावों में जितनी अधिक विशालता होगी, उसे अपने विकास में उतनी ही सहायता मिलेगी। यही वह बिंदु है जहाँ अन्य धर्मों की अपेक्षा, सनातन धर्म, जिसे प्रचलित भाषा में हिन्दू धर्म कहा जाता है, जो कि वैदिक शिक्षा एवं आचारों पर आधारित है, अथवा होना चाहिये – उच्चता, श्रेष्ठता लाभ करता है। सनातन धर्म पुरा कालीन ऋषि-मुनियों के द्वारा प्रचलित किया गया था एवं पृथ्वी की श्रेष्ठ जाति, आर्यों के द्वारा व्यवहृत था।

एक श्रेष्ठ जाति अथवा धर्म में जन्म ग्रहण करने से, जिसका आधार पूर्णतया आध्यात्मिक चेतना तथा सत्य हो, हमारे अंदर बचपन में ही अनायास, बिना किसी पुरुषार्थ के श्रेष्ठ वस्तुओं के लिए संस्कारों की छाप पड़ जाती है। हम स्वाभाविक रूप से जन्म से ही आस्तिक होते हैं, पुनर्जन्म में हमारा विश्वास रहता है – जो कि हमारे व्यक्तित्व के निर्माण में, चेतना के उत्थान में एक महान सहायक सिद्ध होता है। भले ही यही सब कुछ नहीं है। अगर भीतर आत्मा जाग्रत है वह अपने आत्म-विकास को कैसे भी कहीं भी किसी धर्म अथवा संप्रदाय में जन्म लेकर साधित कर सकती है।

मानव आत्मा अपने समग्र विकास के लिए सभी देशों, धर्मों एवं संप्रदायों में घूमती है अर्थात् जन्म ग्रहण करती है। हर जन्म में उसके सम्मुख विकास ही मुख्य कर्म होता है। संसार में जन्म ग्रहण करने का उसका एकमात्र लक्ष्य विकास ही है। इसके लिए जो भी अनुकूल परिस्थिति होती है वह अवश्यंभावी रूप से चुनती है। उसे प्रभु कृपा पर, उनकी सहायता पर पूर्ण विश्वास रहता है। कैसी भी विकट परिस्थिति क्यों न हो, वह अपने विकास का मार्ग खोज लेती है। जीवन दिशा को मोड़ना, अपने यंत्रों के भावों में परिवर्तन लाना, परिस्थिति को, कम से कम उतना, जितना उसके कार्य क्षेत्र के लिए अनिवार्य हो, अनुकूल बनाना, उसकी संकल्प शक्ति के अंतर्गत है।

क्योंकि यह परिवर्तन वह प्रभु-प्रेरणा से करती है, उसे भागवत सहायता सदा सुलभ है।

हमारी यांत्रिक सत्ता, हमारे मन, प्राण, शरीर अपने विकास के लिए बाह्य परिस्थिति पर निर्भर करते हैं, उसे ही सब कुछ समझते हैं। इनमें अपना आत्म-मंगल देखने और समझने की क्षमता नहीं होती। अंतरात्मा की दृष्टि भिन्न है। वह अपने दृष्टिकोण में वस्तु-स्थिति से परे जाती है और आंतरिक वातावरण को, आंतरिक परिस्थिति को अधिक महत्व प्रदान करती है। बाह्य परिस्थिति की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता उसकी दृष्टि में नगण्य हैं। वह उनपर आंशिक रूप में ही निर्भर करती है, पूर्णतः नहीं। आत्म-विकास का एक स्तर पार करने के पश्चात्, सामान्य चेतना-स्तर से ऊपर उठने पर, हम अपने विकास के लिए धर्म, जाति अथवा ऊँची शिक्षा पर निर्भर नहीं करते। एक दिव्य उपस्थिति का पथ-प्रदर्शन हमें भीतर से सहायता करता है। हमारी आत्मा में यह क्षमता स्वाभाविक है कि वह अपने विकास के अनुकूल परिस्थिति, जीवन-लक्ष्य में सफल होने के लिए उपयुक्त सामग्री व्यवस्थित कर लेती है। इसीलिए आत्मा को समर्पित जीवन जीना ही हमारे लिए श्रेयष्कर है। अपनी जीवन-नौका की पतवार जब हम आत्मा के, अर्थात् चैत्य पुरुष के हाथों में थमा देते हैं, हम सीधे गंतव्य पर पहुँचते हैं।

धर्म एक मार्ग

जीवात्मा की सनातन यात्रा में, उसके आत्म-विकास में, धर्म रूपी मार्गों का अपना एक विशिष्ट स्थान है। मार्ग अनेक होते हुए भी अंतिम गंतव्य सबका, सबके लिए एक है, वह है भगवान। मनुष्य को चाहिये कि वह धर्म को उतना ही महत्व प्रदान करे जितना आवश्यक है। उसे अपने धर्म में इतना आसक्त नहीं होना चाहिये कि दूसरे धर्मों के सत्य, उनकी महत्वपूर्ण वस्तुएँ उसे दिखायी ही न दें। अगर हमें अपना धर्म सब दोषों से रहित दिखायी देता है और दूसरे सभी धर्म दोषपूर्ण, सारहीन, निरर्थक दीखते हैं तो हमें पुनः एक बार अपने भीतर झांकना है और मानसिक अहंकार की इस संकीर्णता के प्रति सचेतन बनना है। तब हम देखेंगे कि जो अपूर्णता, जो त्रुटियाँ, जो दोष हमें दूसरे धर्मों में दिखायी दे रहे हैं वे इतने बीभत्स नहीं हैं कि जिनके कारण हम उनसे घृणा करें उत्तेजित हो उठें। हमें यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि उत्तेजित होना, घृणा करना दुर्बलता है। इनके द्वारा हमारे हृदय की क्षुद्रता ही प्रकट होती है। ये महानता के द्योतक नहीं हैं, किसी युग में नहीं रहे, न कभी हो सकेंगे। त्रुटियाँ सबमें हैं, सर्वत्र होती हैं। सृष्टि में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो अपने आपमें पूर्ण है। जिसके विषय में हम कह सकें कि यह अपने स्वरूप में, स्वभाव में, अभिव्यक्ति में, दोषरहित है, पूर्ण है—

इतना पूर्ण कि जिससे अधिक पूर्ण होना संभव नहीं। हमें भूलना नहीं है कि सृष्टि अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही है। एक विकासोन्मुखी सत्ता इसके पीछे है और इसे क्रमिक रूप में विकसित करती हुई पूर्ण विकास की ओर, इसके मूल की ओर ले जा रही है। दूसरों में दोष हो सकते हैं, होते भी हैं किन्तु दोष देखना अपने आपमें कोई समाधान नहीं है। देखना नहीं, दोषों को दूर करना समाधान है। दूसरों में दोष गिनना-गिनाना नहीं, अपना उच्च, निर्दोषता से पूर्ण आदर्श दूसरों के सम्मुख उपस्थित करना समाधान है। आत्म-चेतना की ऐसी विशालता जिसमें हमें कोई पराया दिखायी ही न दे, जो सबका एक रूप में आलिंगन करती हो, जिसके प्रभाव में आकर प्राणी मात्र अपनेपन को, अपने स्वभाव को, धर्म को, जाति को भूलकर परमेश्वर को समर्पण कर देता है। जब तक हम विशालता में निवास करना न सीखें, संकीर्णता बनी रहेगी। हमारे स्वभाव में दोष रहेंगे। हमें आत्मा की विशालता में उठना होगा। उसमें उठ कर हम देखेंगे कि यहाँ जो भी है सब परमेश्वर की अभिव्यक्ति है। यहाँ किसी अन्य तत्व या पदार्थ का पृथक् अस्तित्व संभव नहीं। परम आत्मा की समग्रता में हर वस्तु का, हर प्राणी का, मत अथवा मान्यता का अपना स्थान है और इसके साथ ही उसके पीछे, उसके भीतर तत्व-रूप में उसकी सत्यता, मौलिकता भी विद्यमान है। हमें चेतना का वह स्तर प्राप्त करना होगा, जहाँ सभी

धर्म, पंथ अथवा मत-मतान्तर एक ही चेतना के प्रकटीकरण हैं। एक ही चेतना-शक्ति इनके पीछे है। इनकी प्रेरक है, सहायक है जो संसार में पूर्णता लाने के लिए, मानव चेतना को विशाल बनाने के लिए, कम या अधिक मात्रा में, कम या अधिक दोषों के साथ, संकीर्णताओं के साथ इनका उपयोग कर रही है। इस चेतना का मूल वही एक अंखंड, आदि-अंत रहित परमात्मा है जिसे हम परम पुरुष अथवा परमेश्वर कहकर भी संबोधित करते हैं। वही हमारा, जगत का, सबका मूल है। वही सत्य है, परम चिरंतन सत्य। वह एक ही है, था और रहेगा। हमें चाहिये कि हम सब सीमाओं का अतिक्रमण करें, परस्पर मिलें, अंतिम महत्व मार्गों को, धर्मों को नहीं, गंतव्य को, परमेश्वर को प्रदान करें।

मानव-जीवन संसार में एक विकासोन्मुखी यात्रा है। समस्त संसार अज्ञान से ज्ञान की ओर अग्रसर हो रहा है। मनुष्यों में ही नहीं धर्मों में भी दोष हैं। समाजों में, जातियों में भी दोष हैं। मानव अपूर्ण है। सृष्टि अपूर्ण है। कारण, इसकी रचना अभी अपूर्ण है। रचना-कार्य सम्पन्न नहीं हुआ। यहाँ सब पूर्णता की ओर, कार्य की सम्पन्नता की ओर बढ़ रहा है। कार्य महान है। इसकी सम्पन्नता में शताब्दियाँ लग सकती हैं। हमें धैर्य पूर्वक अपनी तथा समाज की स्थिति में सुधार करते चलना है। दूसरों में दोष देखकर रोष में आने से, क्रोध करने से, वातावरण में तनाव पैदा करने से लाभ

नहीं। यह उच्च बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं है। इस प्रकार हम अपनी समस्या का समाधान प्राप्त नहीं कर सकते।

आएँ ! हम मिलें ! साम्प्रदायिकता से ऊपर उठें। हमें समझना है सृष्टि में सब सीमित है। सृष्टि एक असीम चेतना-शक्ति की सीमित अभिव्यक्ति है। वेदों की, उनके ज्ञान के वर्णन की भी सीमा है। ज्ञान अनंत है। ऋचाओं की संख्या सीमित है। वेद एक अनादि अनंत तत्व की ओर, उसकी अभिव्यक्ति की ओर, सृष्टि एवं सृष्टिकर्ता के रहस्यों की ओर इंगित कर रहे हैं, उसे प्रदर्शित कर रहे हैं। उसका दर्शन नहीं करा सकते। प्राप्ति के साधनों की विधि बता सकते हैं। साक्षात्कार प्रदान नहीं कर सकते। वह हमें ही करना होगा। मार्ग का विवरण हमें प्राप्त हो सकता है। गन्तव्य की महानता के प्रति भी अवगत कराया जा सकता है। चलना हमें ही होगा। मंजिल हमें तय करनी होगी। सहायता उपलब्ध हो सकती है, भागवत कृपा भी साथ देगी। खड़ा हमें होना है। प्रारंभ हमें ही करना होगा।

सूत्र

हमें स्मरण रहे कि हमारे ऋषि-मुनि हमारे आदर्श हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों में हमें उनके चेतना-स्तर को आदर्श मानकर चलना चाहिये। उनकी शिक्षा के प्रकाश में अपने जीवन-स्तर का, कर्म तथा विचारों का निरीक्षण करते रहना चाहिये।

* * *

जो व्यक्ति वेद-वचन के अनुसार जीवन-यापन नहीं करते, वेदों की शिक्षा को जीवन में नहीं उतारते, वे अपने मानसिक अहंकार के यंत्र होते हैं और आत्म-विकास अथवा आत्मोद्धार की संभावना से वंचित रहते हैं। वेदों से बाहर सभी शास्त्र, सभी शिक्षाएँ सीमित ज्ञान को प्रकाशित करती हैं। उनकी शिक्षा एकांगी, एकपक्षीय है। वे परम सत्ता की समग्रता को स्पर्श नहीं करतीं। परमेश्वर तथा उनकी सृष्टि रूप इस आत्म-अभिव्यक्ति के पीछे, इसके भीतर आत्मा के चरम एकत्व की चर्चा नहीं करतीं; जो कि दर्शन की सर्वोत्तम दृष्टि है। सर्वोच्च उपलब्धि है। चरम सत्य है। सृष्टि में मानव आत्मा के द्वारा परम प्राप्तव्य है।

* * *

हमारे हृदय की गहराई में एक ऐसा स्तर है, एक ऐसा ज्योतिर्मय प्रदेश है जहाँ हम सब शंकाओं का, सब समस्याओं का, सब कठिनाइयों का हल प्राप्त कर सकते हैं। आंतरिक शक्ति के साथ युक्त होकर हम असंभव को संभव बना सकते हैं। हर मनुष्य के हृदय में एक अमृत-झरना है। उसमें डुबकी लगाने से, उसका पान करने से कोई भी अमरत्व लाभ कर सकता है। प्रश्न है वहाँ कैसे पहुँचा जाये। सबसे पहले हमें यह जानना है कि वह स्तर हमारी अपनी ही सत्ता का एक अंग है। अगर हम बाह्य सत्ता के स्थान पर आंतरिक सत्ता के साथ तादात्म्य लाभ करने में सफल हो सकें हमारी कार्य सिद्धि सुनिश्चित है।

* * *

अगर मनुष्य सामूहिक रूप में सुखी एवं उन्नत होना चाहता है तो उसे अपना हृदय, अपना मन उस शक्ति को समर्पित करना होगा जिसने इस जगत की रचना की है। इसके जीवन का आधार है। यह अनिवार्य है। कारण, समर्पण के भाव को अपनाये बिना मनुष्य अहंकार का चलाया चलता है। समर्पण से हमारा तात्पर्य है परमात्मा के हाथों में सत्ता का, जीवन का सब दायित्व सौंप देना। उसके संकल्प की चरितार्थता को जीवन का स्वरूप प्रदान करना। समर्पण का अर्थ बलिदान नहीं है। समर्पण से हम परमात्मा के साथ युक्त होते हैं। उनकी दिव्यता, उनकी महानता हमारे अंदर प्रवेश करती है। समर्पण प्रवेश-द्वार है। हम जिसे

समर्पण करते हैं वही हो जाते हैं। वही हमारे अस्तित्व का आधार होता है। क्षुद्र, सीमित व्यक्तित्व के स्थान पर वही हमारे अंदर निवास करता है। जीवन उसका, जीवन-स्वामी वह होता है। हम यंत्र मात्र रहते हैं। उसके संकल्प को चरितार्थ करना हमारा लक्ष्य।

* * *

मनुष्य को जागना होगा। साम्प्रदायिकता से ऊपर उठना होगा। यहाँ तक कि उसे मानसिक-चेतना के उच्चतम स्तर का भी अतिक्रमण कर अतिमानसिक चेतना में अपना निवास संभव बनाना होगा। अपने जीवन में, विचारों तथा कर्मों में आत्म-सत्य को चरितार्थ करना होगा। तभी वह अपनी व्यक्तिगत तथा समाजगत समस्या का समाधान प्राप्त करने में समर्थ होगा, वर्तमान राजनैतिक, जातीय तथा धार्मिक समस्याओं का हल प्राप्त कर सकेगा।

* * *

जब मनुष्य के अंदर सुप्त आत्मा जाग्रत होती है, उसे संप्रदायों की संकीर्णताएँ चुभने लगती हैं। उसके अपने स्वभाव के दोष-दुर्बलताएँ उसके लिए शूल बन जाते हैं। जो सुख-भोग उसे कल तक आनंदित करते थे, उनका स्पर्श

उसे दंश के समान काटता है। जीवन के सामान्य स्तर पर उसे घुटन अनुभव होने लगती है। एक अज्ञात व्याकुलता उसे घेर लेती है। सीमित व्यक्तित्व में निवास उसके लिए असह्य हो उठता है। यही प्रभु आगमन की घड़ी है। यही वे क्षण हैं जो सामान्य जन-जीवन को ऐतिहासिक स्तर पर उठा देते हैं – जब मानव के भीतर छिपी दिव्यता प्रकट होती है और असंभव संभव होता है।

* * *

हम अपने अपको आर्य कहलायें या अन्य कुछ, हम हिन्दू धर्म को मानें या दूसरे धर्मों को, हम प्रजातंत्र में विश्वास करते हों या अन्य तंत्रों में, हमारी समस्या मानव-स्वभाव है। उसमें स्थित काम, क्रोध, लोभ, स्वार्थ, अहंकार आदि हैं। स्वभाव में इनके रहते हम मानव-चेतना के सही, सर्वोच्च स्तर को प्राप्त नहीं कर सकते। हमें एक ऊँची चेतना में निवास करने के लिए अपने स्वभाव में परिवर्तन लाना होगा। उसे आत्मा की दिव्यता से ओत-प्रोत करना होगा। सीमित व्यक्ति-चेतना के स्थान पर आत्मा की विशाल चेतना को अपने विचारों का, कर्मों का आधार बनाना होगा। जिस चेतना में हम केवल अपने ही विषय में न सोच कर संपूर्ण मानव-जाति के विषय में सोचते हैं। उसके उत्थान की, कल्याण की, जीवन-स्तर ऊँचा

उठाने की दिशा में पुरुषार्थ करते हैं। आत्मा की सत्य-चेतना के प्रति उसमें उद्घाटन लाना हमारे प्रयास का स्वरूप होता है।

अगर मनुष्य जाति सुख शांतिमय, आत्म-सत्य तथा प्रकाश से पूर्ण जीवन यापन करना चाहती है तो उसे अपने वर्तमान दृष्टिकोण में, विचारों में उच्चता लानी होगी। धार्मिक तथा जातीय संकीर्णताओं से, भेद-भावों से ऊपर उठना होगा। आध्यात्मिक चेतना में उत्थान संभव बनाना होगा। जीवन को अंतस्थ आत्मा की अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रदान करना होगा, आत्मा की दिव्यता को मानव-जीवन में, स्वभाव में प्रवाहित करना लक्ष्य रूप में निर्धारित करना होगा।

हर समस्या का-- चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामूहिक, जातीय हो या धार्मिक-- समाधान एक ही है। हमें व्यक्तित्व संबंधी भ्रांति से बाहर आना होगा। हम केवल मन, शरीर तथा इंद्रियाँ मात्र नहीं हैं। यह हमारी संपूर्ण सत्ता नहीं है। केवल बाह्य व्यक्तित्व है। हमें आत्म-सत्य में स्थित होना होगा। अंतर्प्रेरणा से जीवन-मार्गों पर चलना होगा। यही शास्त्रोक्त निर्भ्रांत मार्ग है। हमारे पूर्वजों ने, ऋषि-मुनियों ने इसी मार्ग का अनुसरण किया था। इसी पथ से वह महानता प्राप्त होती है, जिसमें उठकर हर व्यक्ति कृतकृत्य होता है। हर जाति धन्यता की पात्र होती है। यह महानता हम सब के अंदर है। इसे जीवन में प्रकट करना मानव मात्र का प्रथम कर्त्तव्य है। तभी इस देश के वासी ही नहीं, संपूर्ण वसुधा धन्य होगी, हमारी जाति ही

नहीं समस्त मानव-जाति का जीवन स्तर ऊँचा उठेगा। उसके विचार, भाव, कर्म, उसका जीवन-स्तर आत्म-चेतना की अभिव्यक्ति का स्वरूप होगा। ओ३म् शान्तिः।

* * *

मानसिक और बौद्धिक दृष्टि के पार, सत्ता की उच्चतम ऊँचाइयों पर जो देख सकते हैं, उनका कथन है कि शीघ्र ही मनुष्य आत्मा में जागेगा, उच्च चेतना में उठेगा। अतिमानसिक ज्ञान में आरोहण करेगा, जहाँ उसके मानसिक चिंतन की सब सीमाएं गिर जाएंगी। परम्परागत प्रथाओं से वह बाहर आएगा। अपने-आपको किसी भी धर्म, जाति या देश से बांधकर नहीं रखेगा। उसका निवास आत्म-सत्य में होगा। उसका व्यवहार मनुष्यों में, प्राणियों में, उनकी आत्मा से होगा। यह एक नया, दिव्य सामंजस्य से भरपूर समाज होगा जिसमें मनुष्य की आत्मा, उसकी आंतरिक सत्ता, मुक्त भाव से अपना माधुर्य वर्षण करेगी। ऐसे समाज का आगमन धरती की नियति है। यह वर्तमान समाजों में से ही विकसित होगा। जैसे अतिमानव जाति मानव-जाति में से विकसित होगी। जैसे मनुष्य जाति पशु जाति में से विकसित हुई थी।

* * *

अभी मनुष्य अपनी सत्ता में अपूर्ण है। प्रकृति की दृष्टि में उसका जो पूर्ण स्वरूप है वह उससे दूर है। उसकी सत्ता निर्मित हो रही है। निर्माण कार्य जारी है। शीघ्र ही कुछ शताब्दियों के पश्चात्, संसार देखेगा कि आत्मा की परिपूर्णता, उसकी दिव्यता मनुष्य के जीवन में प्रतिबिम्बित है। वह पशुता-मिश्रित जीवन का अतिक्रमण कर चुका है। सीमित अहंमय मानसिक चेतना के द्वारा चालित न होकर अतिमानसिक चेतना के द्वारा अधिकृत है, उसके द्वारा प्रेरित-चालित होना उसका स्वभाव है। हृदय विश्व-प्रेम से पूर्ण है। इंद्रियाँ विषयों में रस नहीं लेतीं। वे अंतर्मुखता का भाव अपनाने में हर्ष अनुभव करती हैं। आत्मा के सानिध्य में उन्हें सबसे अधिक प्रसन्नता मिलती है। मनुष्य केवल अपने लिए जीवन यापन करने के भाव से ऊपर उठ चुका है। अपने सुख की चिंता में समय नष्ट नहीं करता। वह संपूर्ण मानवता को अपनी सत्ता का अंग मानता है। उसके सुख में सुख अनुभव करता है। आत्मा की विशाल चेतना उसके जीवन का आधार है, सत्य है।

* * *

जो आँखें उसे देखती हैं जो प्राणियों तथा पदार्थों की सृष्टि कर इनमें छिपा है, वे दूसरे प्रकार की हो जाती हैं। उनसे दिव्य प्रेम तथा सत्य बहता है। आत्मा

का अनंद विकीर्ण होता है। समता झरती है। वे सर्वत्र प्रभु-दर्शन करती हैं। जो मन उसमें डुबकी लगाता है वह अपने विषय में सोचना भूल जाता है। व्यक्ति जब उसे प्राप्त करता है, विश्व-पुरुष के चेतना-स्तर पर उठ जाता है और "ममात्मा सर्वभतात्मा" का गायन गाता, संसार में मुक्त-भाव विचरण करता है। हृदय का पर्दा हट जाता है। हम आत्मा से प्रेरित होकर जीवन-मार्गों पर चलते हैं। उसे समर्पित रहते हुए, उसके लिए संसार में, जब तक उसकी इच्छा निवास करते हैं।

* * *

धर्म परा-चेतना की उस अवस्था की अभिव्यक्ति है जो वस्तुओं के मूल में, उनके भीतर, उनके स्व-भाव के रूप में स्थित है।

* * *

परमेश्वर के जिस संकल्प की अभिव्यक्ति यह चराचर जगत है, वही संकल्प पदार्थों के हृदय में स्थित है। जिससे कि वह उन्हें मूल के प्रति सचेतन कर सके और उसकी ओर.प्रेरित कर सके, मोड़ सके।

पहले मनुष्य समाज का निर्माण करता है। उसके बाद वह उसपर निर्भर करने लगता है और समाज मनुष्य को अपने सांचे में ढाल लेता है। यह क्रम तब तक चलता है जब तक हम अपने भीतर आत्मा को अर्थात् आत्मा की मुक्त चेतना को प्राप्त नहीं कर लेते। आत्मा में मुक्त व्यक्ति भगवान के सिवा किसी और अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं करता। अगर उसका संबंध जगत की वस्तुओं और प्राणियों के साथ हम देखते हैं तो वह भी उनके अंदर भगवान के साथ ही होता है। यह कथन उन सभी का अनुभव सिद्ध है जिन्होंने आत्मा को पाया, उसमें निवास किया अर्थात् आध्यात्मिक जीवन बिताया। वे चाहे किसी देश के वासी थे, किसी धर्म के अनुयायी थे, किसी भी वर्ग अथवा वर्ण से संबंधित थे, नारी थे अथवा पुरुष थे। वे भगवान में, भगवान के लिए ही थे। मानव-जीवन का, उसके व्यक्तित्व का सबसे मूल्यवान और महत्वपूर्ण तथ्य यही है।

* * *

अगर यह सभ्यता, समाज का वर्तमान स्वरूप, विलासिता की ओर यह अंधी दौड़, विज्ञान की अतुल विनाशकारी शक्ति पर अधिकार उसके अन्तर को

झकझोरने लगा है, क्योंकि मानव अपने आपको आत्म सत्य से, शाश्वत शांति सिन्धु से दिन-दिन दूर होता पा रहा है, अगर वह भीतर से संतप्त है, उसे मानसिक कष्ट-क्लेशों का कहीं किनारा नजर नहीं आ रहा है तो उस तक यह वाणी पहुँचा – "निराशा की घड़ियों में भी आशा की किरण सदैव विराजमान रहती है। हमारी मृत्यु में हमारे पुनर्जन्म की संभावना निहित है। काले घनों में चौंधिया देने वाली विद्युत विराजती है। परमेश्वर मनुष्य की वर्तमान क्रूर, पैशाचिक, हिंसात्मक वृत्ति के विषय में, उसकी दृष्टिहीन पापमय मानसिकता से अवगत हैं। उनका परम तेज पृथ्वी पर अवतरित हो चुका है। अगर अज्ञान बढ़ता गोचर हो रहा है तो केवल उषा काल तक। तत्पश्चात् सब प्रकाश ही प्रकाश है।"

* * *

मनुष्य समस्या के रूप को देख चुका है। कारण भी किसी अंश तक समझ चुका है। किन्तु उसका समाधान वह जहाँ खोज रहा है, वहाँ नहीं है। यही उसकी समस्या है। मनुष्य की व्यक्तिगत अथवा सामूहिक सभी समस्याओं का कारण भीतर है, उसके स्वभाव में है। उसकी चेतना की संकीर्णता में है। अभी मानव-स्वभाव पक्षपाती है। स्वार्थी है। उसकी सामूहिक चेतना बंद है। वह दृष्टिहीन है। उस पर

पर्दा है। उसे आत्म-सचेतनता में उठना होगा। आत्म-एकत्व की विशालता में जीना सीखना होगा। प्रथम, व्यक्ति को जागना होगा। स्वयं को परिवर्तित करना होगा। मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं तथा क्षुद्रताओं से बाहर आना होगा। सामाजिक विरोधों का, कलह तथा द्वेष-भावना का कारण अपने अंदर खोजना होगा। तत्पश्चात् ही वह संपूर्ण मानव-जाति में जागृति, उसकी चेतना में उत्थान लाने में समर्थ होगा।

* * *

अगर मनुष्य धार्मिक तथा सांप्रदायिक परम्परागत विचारों की संकीर्णता में बंद रहेगा, तो समझें वह समय दूर है जब वह आत्म-सत्य के प्रति सामूहिक रूप में सचेतन होगा। उसे इससे बाहर आना होगा। एक विशाल चेतना में उठना होगा। यह एक कर्तव्य है जो मानव के अंदर उसकी आत्मा के द्वारा नियुक्त किया गया है।

* * *

किसी भी संप्रदाय या जाति के नेता के स्वभाव में एक योगी की समता का होना प्रथम आवश्यकता है। एक योगी की आन्तरिक प्रबुद्धता में निवास

उसका स्वभााव होना चाहिये। दूसरी आवश्यकता है मानसिक दृष्टि के परे आध्यात्मिक, एक अतिमानसिक दृष्टि में उठना।

जिस व्यक्ति के अंदर आत्मिक दृष्टि नहीं, धैर्य एवं सहनशीलता नहीं, संस्कार के रूप में जिसके अंदर त्याग की भावना नहीं, बलिदान का भाव नहीं, जो सबको आत्म-रूप नहीं देख सकता वह अध्यक्ष अथवा नेता होने के अधिकार से दूर है।

* * *

दूसरों के दोष देखने जायेंगे तो लक्ष्य से भटक जायेंगे। दूर करने जायेंगे तो संतुलन खो बैठेंगे। आज जो हैं वही रहते हुए, अर्थात् सीमित व्यक्ति-चेतना में निवास करते हुए, हम अपने आपको दूसरों से श्रेष्ठ मानना प्रारंभ कर देंगे। हमारा निवास अहंकार में हो जायेगा। उसके द्वारा ग्रसित हो जायेंगे। अगर हम अपने स्वभाव में दोष देखने के अभ्यासी हों, अपने अंदर से उन्हें दूर कर सकें, तो विश्व-प्रकृति में यह संभावना उत्पन्न हो जाती है कि कोई भी उन पर विजय पा सके, अपने स्वभाव में से उन दोष को दूर कर सके।

अगर हम व्यक्ति-चेतना का अतिक्रमण कर चुके, मन के परे आत्म-चेतना में हमारा निवास स्थायी हो चुका, सत्ता में सब कुछ, छोटी से छोटी क्रिया भी भागवत इंगित पर,

उनके आदेश पर निर्भर करती है तो हम कोई भी कार्य, चाहे वह कितना भी कठिन हो अपने हाथों में ले सकते हैं। भागवत-आदेश-पालन हमारे जीवन का, कर्मों का स्वरूप होने के उपरान्त हम कर्त्तृत्व के अभिमान से ऊपर उठ जाते हैं। कर्म बंधन-रूप नहीं रहते। अंतस्थ पुरुष की मुक्त चेतना हमारा स्वभाव हो जाता है। मन, विचार तथा कर्म में उसका प्रवाह हमारा जीवन।

* * *

मानव आत्मा इस संसार में अपना विकास करने के लिए अवतरित होती है। उसका लक्ष्य है विकास। असीम, समग्र विकास। अपने इस विकास में वह अपनी सत्ता के मूल सत्य के साथ एकत्व लाभ करती है। उसकी दिव्यता को प्रथम अपने जीवन में और तत्पश्चात् मानव-मात्र के जीवन में उतारने का प्रयास करती है। उसके द्वारा जीवन का रूपांतर संभव बनाती है। अपने इस लक्ष्य में वह कहाँ तक सफल होती है, कहाँ तक प्रगति करती है, हमारी अभीप्सा और पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। हमारे संकल्प की दृढ़ता, समर्पण की पूर्णता, इस महान उपलब्धि में अनिवार्य शर्त्तें हैं। हमारी आंतरिक और बाह्य सत्ता के प्रत्येक अंग की पूर्ण सच्चाई ही हमारी रक्षक और सहायक कही गई है।

जो आत्मा के जितना समीप है, जितना अधिक उसकी ज्योति को प्राप्त कर सकता है, उतना ही अधिक महान है। उसका जीवन-स्तर उतना ही उच्च है, सत्यमय है, आदर्शपूर्ण है।

* * *

घृणा नहीं करनी चाहिए। घृणा करना समाधान नहीं है। घृणा से समस्यायें समाधान प्राप्त नहीं करती, समाप्त नहीं होती, वरन् बढ़ती हैं। हमें चाहिये कि परस्पर मिलें, प्रेम करें और एक दूसरे को सम्मान प्रदान करें। दूसरों के दुख को अपना समझें। उनके कष्टों में हाथ बंटाएँ। उनकी उन्नति के लिए प्रार्थना करें, प्रयास करें। ऐसा करने से सृष्टिकर्ता हमें वह क्षमता प्रदान करते हैं जिसमें भागवत संकल्प सीधा अवतरित होता है। आदेश सीधे प्राप्त होते हैं और तब हमारे लिए युद्ध में उतरना, या मंदिर में पुजारी होना एक समान हो जाता है। हम सर्वत्र सफलता लाभ करते हैं।

* * *

हमारे पूर्वजों ने सोचा कि मनुष्यों को कोई ऐसी वस्तु प्रदान करनी चाहिये जिसके द्वारा वे परस्पर मिलकर रहें।

उनके हृदय में द्वेष-भावना का प्रवेश न हो। प्रेमपूर्वक आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर हों। अपकार के भाव उनके मन में न उठें। कोई अनुचित कर्म में प्रवृत्त न हों। सब आत्म-कल्याण का महत्व समझें। सत्य को जीवन में सर्वोच्च स्थान प्रदान करें। सृष्टिकर्ता परमेश्वर के प्रति कृतज्ञ रहें। उन्होंने धर्म को सबसे उपयुक्त समझा और प्रदान किया।

* * *

जब हम कहते हैं, हम धर्म कर रहे हैं, हम धर्म को अभिव्यक्त करते हैं। धर्म चरितार्थ किया जाता है। धर्म का आचरण, उसकी स्वाभाविक गति का पालन किया जाता है। धर्म एक सत्य चेतना है। हम धर्म में निवास कर सकते हैं। कर्मों में चरितार्थ कर सकते हैं। आत्मा की अभिव्यक्ति के समान धर्म की अभिव्यक्ति, उसकी चरितार्थता जीवन में, विचारों में, कर्मों में संभव है। धर्म अनंत मूल सत्ता में, जो कि सृष्टि का उद्‌गम है, प्रवेश द्वार है। मानवता जब आत्मा में जागेगी उसे दृष्टि प्राप्त होगी। वह भारतीय पुरातन ऋषि-मुनियों के प्रति, उनके द्वारा प्रदत्त श्रुतियों के प्रति आभार व्यक्त करेगी।

* * *

मानव स्वभाव जब रूपांतरित होकर धर्म के दिव्य स्वभाव का रूप ग्रहण कर लेता है, जब उसकी सत्ता में सब धर्ममय हो जाता है, वह अनंत मूल सत्ता में प्रवेश का, उसके साथ तादात्म्य लाभ करने का अधिकारी हो जाता है।

* * *
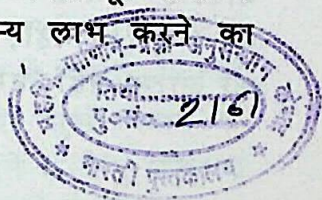
संसार में शास्त्र अनेक हैं और परस्पर इतने असंबद्ध हैं कि वेदों की उनके साथ गणना करना अनुचित प्रतीत होता है। वेद श्रुति हैं। हम उन्हें शास्त्र मात्र कहकर, शास्त्रों की भूमि पर लाकर भीतर असंतुष्टि अनुभव करते हैं।

* * *

शास्त्र किसी आध्यात्मिक अनुभूति की बौद्धिक अभिव्यक्ति होते हैं। अनुभूति में तथा उसकी अभिव्यक्ति में एक अति दीर्घ दूरी होती है। अनुभूति सूक्ष्म स्तर पर घटित दर्शन है। अभिव्यक्ति उसे स्थूल, भौतिक रूप देने का हमारा प्रयास होता है। जिसकी अपनी बहुत तरह की सीमाएँ होती हैं। अनुभूति वस्तु स्थिति का एक साथ, उसके समग्र रूप में दर्शन करती है। अभिव्यक्ति

एक-एक शब्द जोड़कर उसका वर्णन करती है। यहीं अनुभूति अपनी मौलिकता से दूर चली जाती है और हमें जो पढ़ने-सुनने को मिलता है वह अनुभूति नहीं, उसका विवरण होता है। वस्तु की आत्मा नहीं, उसका विग्रह मिलता है।

* * *

अगर हमने समाज में एक प्रतिष्ठित पद प्राप्त किया है, हमें ईश्वर के सामने झुक जाना चाहिये। उनसे विनीत भाव में पूछना चाहिये कि मुझे यह पद क्यों प्रदान किया गया है ? प्रभु मुझसे क्या चाहते हैं ? मेरे कर्त्तव्य का, मेरी सेवा का क्या स्वरूप होना चाहिये ? किस भाव से मुझे इस क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिये ?

"इसे आत्म-उपलब्धि के मार्ग में साधन बना सकूं, ऐसा आशीर्वाद प्रभु प्रदान करें।" हमारे हृदय के उद्गार हों।

* * *

बुद्ध अपने कारुण्य से भरे हृदय को लेकर पृथ्वी के वातावरण में विद्यमान हैं और उन सभी व्यक्तियों को सहायता करते हैं जिनके हृदय मानव मात्र के लिए मंगल कामना से भरे हैं। बुद्ध अब किसी सम्प्रदाय विशेष के नहीं हैं। उनकी चेतना में वे सब हैं, जिनका जीवन मानवता के लिए, संसार को सुखी बनाने के लिए, इसे दुख-कष्टों से विहीन करने के लिए बलिदान का रूप ग्रहण कर चुका है। एक विशेष स्तर पर बुद्ध की सहायता उन सबको सुलभ है जो स्वभाव से परोपकारी हैं, मानव मात्र का कल्याण चाहते हैं, मानव-चेतना-स्तर को ज्योतिर्मय बनाने के लिए हर संभव कदम उठाने को तत्पर हैं।

* * *

आदर्श मनुष्य उसे कहते हैं जो संसार में ईश्वर का प्रतिनिधि होने की योग्यता से सम्पन्न हो। ईश्वर के लिए जिये, उसी के आदेशानुसार जीवन यापन करे। जिसके हर कर्म, भाव, विचार में जग-मंगल निहित रहे। यह संभावना सबके अंदर निहित है। सबकी यह नियति है। जो चाहे विकसित कर सकता है।

परिशिष्ट

कोई भी सभ्यता जिसका आधार आध्यात्मिकता नहीं है, चाहे वह भौतिक रूप में कितनी भी सबल हो, सारे संसार पर दीर्घकाल तक शासन नहीं कर सकती।

जो समाज असत्य, अधर्म एवं अन्याय को प्रश्रय देता है, उसके प्रभाव का सूर्य शीघ्र ही अस्त हो जाता है।

कोई भी जाति जो साधारण-सी विजय के लिए, तुच्छ सफलताओं के लिए छल-कपट, धूर्तता का सहारा खोजती है, उन्हें उपयोग में लाने में हर्ष अनुभव करती है, वह कभी दूसरी जातियों की दृष्टि में सम्मान की पात्र नहीं हो सकती।

जिस धर्म की शिक्षा का प्रथम सूत्र आत्मा के एकत्व का, प्राणी मात्र में भगवद् दर्शन का, सबको अपनी आत्मा के समान प्रेम करने का पाठ नहीं पढ़ाता, जिस धर्म में नारी को एक देवी के रूप में सम्मान प्रदान नहीं किया जाता, संयम की शिक्षा नहीं दी जाती, प्राणी मात्र के प्रति दया-भाव का जहाँ लोप है, वह धर्म नहीं धर्म के नाम पर जन-समूह को भटकाना है।

संपूर्ण सृष्टि का, मानव-जाति का, उसके जीवन का मूल परमात्मा है। एक दिव्य पुरुष की सत्ता है। परमात्मा अपनी दिव्य उपस्थिति के द्वारा संसार को इसके मूल की ओर ले जा रहे हैं। यह दिव्यता वस्तुओं का

आंतरिक स्वभाव है, जिसे जीवन में चरितार्थ होना है। इसकी चरितार्थता ही मानव-जीवन का स्वरूप होना चाहिये। एक दिन यहाँ सब आत्मा की दिव्यता से परिपूर्ण होगा, उसके द्वारा रूपांतरित होगा। यही हर पदार्थ का धर्म है। जिस जीवन में, जिस कर्म में आत्मा की दिव्यता जितनी अधिक अभिव्यक्त होती है वह अंतर्सत्य के उतना ही समीप होता है।

सृष्टि में इसके पीछे एक विश्वव्यापी न्याय-शक्ति कार्यरत है। व्यक्ति हो या समाज सबको अपने-अपने कर्मों का फल एक दिन पाना होता है। सभ्यताएँ नष्ट होती देखी गयी हैं। राष्ट्रों का ध्वंस देखा गया। व्यक्ति इतिहास बनकर रह गये। अन्याय, अधर्म, अत्याचारपूर्ण कर्मों को करते हुए जो आज हँस रहे हैं संसार उन्हें कल विलाप करतें देखेगा। अंतिम विजय सत्य की होती है। यह शाश्वत विधान है। सृष्टि-मंच पर प्रचीनतम सनातन धर्म, जो वैदिक शिक्षा पर आधारित है, स्थायी रूप से प्रतिष्ठित होगा। संसार के मार्गदर्शन का भार आध्यात्मिक व्यक्ति ग्रहण करेगा। हर देश, जाति तथा धर्म उसके द्वारा शासित होगा। मानवता इसे सहर्ष स्वीकार करेगी, इसमें अपना श्रेय समझेगी। यही धरती की नियति है।

हमारा प्रथम प्रयास होना चाहिये अत्यधिक बहिर्मुखता से पीछे हटना। अंतर्मुखता का भाव अपनाना। पूर्ण एकाग्रता तथा नीरवता के साथ हृदय-केन्द्र में स्थित होना। वहाँ हमें भागवत उपस्थिति अनुभव होती है। आत्मा के दर्शन होते हैं। इसके लिए हृदय का आवरणहीन होना अनिवार्य है। जो पवित्रता से, कामनाओं के त्याग से, इंद्रिय-संयम से संभव है। हमारे दूसरे प्रयास का स्वरूप अतिमानस की प्राप्ति – दिव्य चेतना की मुक्तावस्था में निवास करते हुए उससे प्रेरित होकर जीवन मार्गों पर अग्रसर होना। सारी सत्ता का, उसके निम्नतम भाग शरीर का भी, अतिमानसिक ज्योति में रूपान्तर संभव बनाना।

सुखवीर आर्य

नया समाज, जिसे हमने भावी समाज कहा है, जो कि मानवता की भावी नियति है, अतिमानसिक चेतना पर आधारित एक नई आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत होगा। नई आध्यात्मिकता जीवन और जगत का त्याग नहीं करेगी। वरन्, उन्हें स्वीकार कर आत्मा के आलोक से आलोकित करेगी। प्रचलित धर्म अतिमानसिक विधान को समर्पित हो जायेंगे। जो व्यक्ति समाज का मार्गदर्शन करेंगे, आत्म-सत्य में निवास उनका स्वाभाविक चेतना स्तर होगा। मानव जाति आत्मा के आदेश के अनुसार जीवन-मार्गों पर अग्रसर होगी। मानव एक ऐसी दिव्य विशालता में आरोहण करेगा, जहाँ स्वार्थ भाव से, जातीय तथा साम्प्रदायिक अहंकार से मुक्त होगा। नया समाज वर्तमान समाज का संशोधित रूप नहीं होगा। जिन व्यक्तियों के द्वारा नया समाज निर्मित होगा, वे प्रचलित धर्मों से, प्रथाओं से, संप्रदायों से ऊपर होंगे। अतिमानसिक चेतना का प्रकाश उनका प्रथ-प्रदर्शक होगा, जीवन का, कर्मों का आधार होगा। आनेवाले समाज में मनुष्य विश्व-विधान के प्रति सचेतन होंगे। उनके भाव उदारता से भरे होंगे। कोई अपने सुख के लिए स्वार्थ में डूबा नहीं होगा। उनकी प्रथम विशिष्टता यह होगी कि सभी परस्पर एक-दूसरे को उन्नत करने का प्रयास करेंगे। भौतिक हो या बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक, सभी स्तरों पर यथासंभव सहायक बनने में, सच्चे सुख का मार्ग दर्शाने में आंतरिक संतुष्टि अनुभव करेंगे।

सुखवीर आर्य

Rs. 30.00